Chapter-3

तृतीय अध्याय

राजनीतिक व्यंग्य

यह एक स्थापित सत्य है कि आज के युग में सामाजिक एवम् आर्थिक सुधारों की प्रक्रिया, राजनीति से उदासीन रहकर सम्पन्न नहीं होती। प्राय: समाज से सम्बद्ध हर एक गतिविधि में राजनीति की भूमिका अनिवार्य प्रतीत होने लगी है। बिना राजनैतिक हस्तक्षेप के कोई भी सामाजिक और आर्थिक सुधार अपनी सुनिश्चित अथवा उचित लक्ष्य-बिन्दु को प्राप्त नहीं कर सकती। राजनीति की स्वतंत्र प्रवृत्ति के कारण उसमें असंगतियों का पदार्पण स्वाभाविक है। विसंगतियाँ स्वत: ही राजनीति में प्रविष्ट हो जाती हैं। जनता में पहले से ही राजनीतिक असंगतियों के प्रति आक्रोश के भाव विद्यमान रहते हैं, और यदि व्यंग्यकार इन्हीं असंगतियों पर चोट करता है तो तुरंत उसे जनता से अनुकूल एवम् आशाजनक प्रतिक्रिया की अपेक्षा होती है। राजनैतिक असंगतियों पर किया गया यह चोट या कटाक्ष ही 'राजनीतिक व्यंग' है।

राजनीतिक व्यंग्यकार के लिए सर्वाधिक हानि होने की आशंका सदैव बनी रहती है। प्रान्तीयता और निरंकुश मनोवृत्ति व्यंग्य के पथ की सर्वोपरि बाधाएँ है; इसी कारण व्यंग्य-साहित्य हिटलर या स्टालिन के आतंकवादी युग में समृद्ध नहीं हो पाया। अत्याचार और आतंक के युग में व्यंग्य की अभिव्यंजना अधिक समर्थ और प्रभावशाली नहीं बन पाती। राजनीतिक व्यंग्य के लिए राजनैतिक भद्रता की समृद्धि एवं अत्युच्च कोटि की स्वतंत्रता की अपेक्षा होती है, अन्यथा व्यंग्यकार के लिए राजनीति प्राणलेवा भी बन सकती है। कोई भी राजनीतिक सत्ता अपने विरुद्ध कुछ भी सुनने के लिए तैयार नहीं होती। किन्तु राजनीतिक व्यंग्यकार सरलता से अपना उद्देश्य पूरा कर लेता है क्योंकि जनता में पहले से ही राजनैतिक व्यंग्य के प्रति आकर्षण विद्यमान रहता है। पाश्चात्य विद्धान 'मैथ्यु हागर्ड' ने राजनीतिक व्यंग्य की सर्जनात्मक सफलता के लिए चार अनिवार्य शर्ते रखी है- "प्रथम, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता; द्वितीय, राजनैतिक गतिविधियों में सक्रिय भूमिका सम्पन्न करने वाले शिक्षित व्यक्तियों की सहज स्वीकृति; तृतीय, रचनाकार

के प्रति जन-विश्वास तथा चतुर्थ, साहित्यिक अनुभूतियों की विविधताओं का रसास्वादन कर सकने वाला प्रबुद्ध जन समुदाय।''[1] मैथ्यु हागर्ड के इन शर्तों की परिधि में व्यंग्य की छटा दर्शनीय बन जाती है।

व्यंग्य-परम्परा के विस्तृत एवम् सुदीर्घ इतिहास का विवेचन और विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि 'राजनीति' का क्षेत्र व्यंग्य का मुख्य विषय रहा है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रारम्भिक चरण अर्थात् वीरगाथा कालीन व्यंग्येतिहास में नपुंसक राजाओं की कायरता और उनकी पलायनवादी मनोवृत्ति को व्यंग्य का लक्ष्य बनाया जाता था। रीतिकालीन विलासी आभिजात्य वर्ग और राजदरबारों की वैभव-विलासिता तथा जन-जीवन के भाग्य-विधाताओं की समाज केन्द्रित चेतना के प्रति उदासीन संस्कार व्यंग्य के लक्ष्य स्वत:बन जाते थे। ब्रिटिश साम्राज्यवाद की पराधीनता को सहन करने में असमर्थ 'भारतेन्दु युग' के अनेकों लब्ध प्रतिष्ठित व्यंग्यकारों ने समकालीन राजनीतिक चेतना को सफल एवम् समर्थ अभिव्यक्ति प्रदान की। प्रगतिवादी विद्वानों ने भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद एवम् पूँजीवादी प्रवृत्तियों पर तीक्ष्ण व्यंग्य-प्रहार किये। स्वातंत्र्योत्तर व्यंग्य साहित्य ने वर्तमान रुग्ण तथा चेतनाजन्य पीड़ा को अत्यंत ही सफलतापूर्वक अभिव्यक्ति प्रदान कर उसे अत्यधिक ही सशक्त रूप में प्रस्तुत किया है। लोक तांत्रिक चुनाव-प्रणाली, चुनाव-प्रचार, सरकारी प्रशासन, राजनेतागण, विरोधी दलों की भूमिका, लालफीताशाही, निरंकुश मनोवृत्ति, नौकरशाही, सरकारी योजनाओं का अन्धाधुन्ध प्रचार और कागजी योजनाओं की घुड़दौड़ भी व्यंग्य के लक्ष्य रहे हैं। सम्प्रति काल में राजनैतिक क्षेत्र में संसदीय कार्य-प्रणाली, राजनैतिक कार्य-कर्ताओं का कच्चा चिठ्ठा तथा सरकारी आश्वासनों के शुष्क मरूस्थलों में भटकती निराश जनता की घायल और बोझिल मन:स्थिति व्यंग्य-लक्ष्य का विषय सहज ही में बन जाती है। राजनैतिक विसंगतियों की स्वतंत्र कटु-आलोचना अथवा तीक्ष्ण प्रतिक्रिया व्यंग्य की आड़ में अपनी उत्कृष्ट अभिव्यंजना प्रस्तुत कर सकती है।

आंचलिक उपन्यासों में राजनैतिक विसंगतियों पर व्यंग्य के तेवर स्वाभाविक रूप से दिखायी पड़तें हैं। राष्ट्रीय स्तर की राजनीति में आज जितनी भी विषमताएँ एवम् विसंगतियाँ जन्म ले चुकी है, उन सभी का अधिकाधिक प्रभाव प्रत्यक्ष एवम् अप्रत्यक्ष रूप से आंचलिक राजनीति पर पड़ा है

---

१. मैथ्यू हागर्ड: सटायर, पृष्ठ-३३

परिणाम स्वरूप छोटे-बड़े सभी गाँव और कस्बे इन राजनीतिक विसंगतियों की चपेट में आने से नहीं बच पाये है। संसदीय एवम् विधान सभा के चुनाव से लेकर ग्राम प्रधान अथवा सभापति-चुनाव तक में घटिया और गन्दी राजनीति का बोलबाला अपने चरमोत्कर्ष पर है; हर जगह अब इसी का साम्राज्य है। आंचलिक उपन्यासकारों ने अपने आंचलिक उपन्यासों में इन राजनीतिक विसंगतियों पर तीक्ष्ण व्यंग्य-प्रहार किया है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त देश में जमींदारी-उन्मूलन की घोषणा के साथ-साथ प्रजातांत्रिक ढंग से सम्पदा-वितरण की बात जनता के सम्मुख रखी गई। जन-तांत्रिक शासन पद्धति के माध्यम से सत्ता के विकेन्द्रीकरण का लक्ष्य संविधान में रखा गया। देश और समाज की प्रगति के लिए अनेक योजनाओं के प्रारूप बने जिससे आशा बँधी कि देश पूँजीपतियों के चंगुल से मुक्त हो जाएगा लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद आज भी देश पिटी-पिटायी लीक को नहीं छोड़ पाया। अब तो लगने लगा है कि स्वतंत्रता केवल एक अल्पसंख्यक वर्ग-विशेष को ही प्राप्त है; जन-सामान्य का भाग्य अब भी नहीं फिरा। प्रथम आम-चुनावों के बाद से ही राष्ट्रीय क्षितिज पर अंधेरे की रेखाएँ खिंचने लगीं। देश के भावी निर्माण के लिए चुनाव के माध्यम से मंच पर जो राजनेता प्रकट हुए, वे सत्ता संभालते ही भ्रष्ट हो गए। नेताओं के रूप में पुराने सामंतों से भी अधिक व्यक्ति पैदा हो गए। ये नये सामंत देश-सेवा की आड़ में स्वार्थ-सिद्धि में सहृदय लग गये। राजनीतिक क्षेत्र में भ्रष्टाचार, स्वार्थपरता, भाई-भतीजावाद, जातीयता, प्रादेशिकता, भाषायी विवाद एवं साम्प्रदायिकता ने सघन रूप से पैर जमा लिए हैं। चारों ओर बिखराव, अव्यवस्था, अत्याचार, छितराव, लूट-खसोट और चोर-बाजारी दिखायी देने लगी है। राजनेता नारे लगाते हैं जन-सेवा के, किन्तु आत्म-सेवा से ही उन्हें अवकाश नहीं हैं। भ्रष्टाचार ऊपर से छनता हुआ नीचे तक आया है। राजनीति एक युगधर्म के रूप में प्रकट हुई है।जनतंत्र के स्थान पर भीड़ तन्त्र का युग है।स्वतंत्रता पूर्व जो लोग सूखी रोटी खाकर देश पर प्राण न्योछावर करने में तनिक भी नहीं हिचकते थे, वही लोग आज वैभव और विलास की समस्त सामग्री एकत्र करने में तन्मयता से संलग्न है। उनका कोई सिद्धान्त अथवा आदर्श अब नहीं रह गया है। चारित्रिक दृढ़ता और नैतिक सामर्थ्य के स्थान पर

अवसरवादिता, पदलोलुपता, और धनलोलुपता आ गई है। बहती गंगा में हाथ धोने की प्रवृत्ति बढ़ गई है। उनकी कथनी-करनी में पर्याप्त अन्तर आ गया है। अब तो उनका एकमात्र उद्देश्य अपनी जेबें भरना बन गया है। उनके एवं पूँजीपतियों के स्वार्थों ने संगठित होकर मानव-मानव के सम्बन्धों को आर्थिक सेतु-बन्ध के रूप में परिणत कर दिया है। राजनीतिक प्रभावों का प्रयोग दलीय तथा व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि में किया जाने लगा है। राजनीतिज्ञों का क्रय-विक्रय होने लगा है जिसके कारण हर तीसरे दिन सरकारें गिरने लगी हैं। सभी राजनीतिक दल अपने-अपने हिसाब चुकाने में लगे हैं। इस तरह की राजनीति के प्रचलन स्वरुप, उसके सारे आदर्श और सिद्धान्त नेस्तनाबूद हो गये हैं। राजनीति मात्र व्यवसाय बनकर रह गई है। असामाजिक तत्व भी राजनीति का खोल चढ़ाकर स्वयं को सुरक्षित समझते हैं। राजनीतिज्ञों के क़ारण छात्रों में अनुशासनहीनता की भावना ऊपजी है। उन्हीं के कारण आज न्यायालयों की निष्पक्षता से लोगों का विश्वास उठ गया है। पुलिस-तंत्र भी राजनेताओं की मुठ्ठी का शिकार होकर रह गया है जिसके कारण जन-साधारण में असुरक्षा की भावना घर कर चुकी है।

ऐसी स्थिति में जन-सामान्य का मोह-भंग होना स्वाभाविक भी था। मोह-भंग की स्थिति में उसे लगा कि समाज की प्रगति के प्रारूप मात्र कागजी थे। उनके लिए स्वतंत्रता का कोई औचित्य नहीं रह गया था। और विदेशी शासकों के विरुद्ध संघर्ष करने वाली भारतीय जनता, देश को लूटने वाले अपने ही लोगों के विरुद्ध संगठित होकर संघर्ष न कर सकी। किन्तु व्यंग्यकारों ने राजनीतिक क्षेत्र में व्याप्त विकृतियों एवं विषमताओं पर व्यंग्य अवश्य किये हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् देश में, संसद, विधान-सभा एवं स्वायत्तशासी संस्थाओं के सदस्यों के चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर हुए। राजनीतिक दलों ने प्रत्याशियों के चयन में योग्यता के किसी मानदंड को नहीं अपनाया। उन्होंने अर्थ और प्रभाव के आधार पर टिकट दिये। इस राष्ट्रव्यापी गन्दी राजनीति का तीव्र प्रभाव ग्राम्यांचलों एवं कस्बों पर भी पड़ा। कोई भी अंचल आज इस घटिया राजनीति से अछूता नही रह गया है। आंचलिक हिन्दी उपन्यासों में विभिन्न अंचलों में सम्पन्न होने वाले छोटे-बड़े सभी तरह के चुनावों तथा राजनीतिक गतिविधियों पर व्यंग्य का प्रहार उपन्यासकारों ने स्वाभाविक रूप से किया है।

ग्राम-पंचायत के चुनावों में वे सभी हथकण्डे अपनाये जाते है जो राष्ट्र अथवा राज्य स्तरीय चुनावों में अपनाये जाते है। उसी कारण ग्रामीण जनता का मोहभंग भी हुआ है। आंचलिक उपन्यास 'मैला आंचल' में फणीश्वर नाथ 'रेणु' ने पंचायत की उदासीनता एवम् उसकी विसंगति पर व्यंग्याक्षेप किया है-'सहदेव मिसर' बड़े चिन्तित दिखायी पड़ रहे है- "लेकिन पंचायत के फैसले से चूल्हा तो नहीं सुलग सकता? पंचों को क्या मालूम कि एक मन धान में कितना चावल होता है ! सास्तर में कहा है, 'जोरू जमीन जोर का, नहीं तो किसी और का।' और देह के जोर से आजकल सब कुछ नहीं होता। जिनके पास पैसा है वही 'बोतल मिसर पहलवान' है ।वही सबसे बड़ा जोरावर है।'..... जितना कानून और पंचायत है सब गरीबों के लिए ही? हुँ!"[१] 'चिठ्ठी रसैन' में भी 'शैलेश मटियानी' ने पंचायत की तमाम गतिविधियों पर व्यंग्य किया है- "हमारी तरफ से न-जाने किसके आपसी मामले क्या-क्या है, हमें तो पंचैत में सामने आने वाले 'केस' को इन्साफ की नजर से देखना पड़ता है; थोकदार !

घुमैली वाले लछमदत्तज्यू की इस सीधी-सादी बात ने, थोकदार की सारी बुनियाद को ही घुमा दिया। झट से फतुई (बास्कट) की जेब से एक रूमाल निकाला, जिसमें बिक्टोरिया-छाप पच्चीस कलदार बँधे हुए थे और लछमदत्तज्यू के हाथ में थमा दिया- "पंच परमेश्वर कह रखा है, उसकी बातों की, उसके इन्साफ की कीमत को कौन चुका सकता है?.... तो लछमदतज्यू ये सब बातें आपके और हमारे घर की हैं। दो-चार बरस में बेटे नरैणसींग का बरपन काफी धूम-धाम से करूँगा, आपके मय-परिवार को बुलाऊँगा ही और सुना है, आपकी घुमौली में आप लोग एक शानदार शिवजी का मन्दिर खड़ा करने वाले है। जो कुछ चंदा मेरे हिस्से में आयेगा, देने में खुशी ही होगी। आपका काम, मेरा काम है। इसे भी अपना ही मामला समझ लीजिए और विशेष बाँकी मैं क्या कहूँ, आप खुद समझदार है, गुरू!"[२]

लछमदत्तज्यू ने फुर्ती से रूमाल अपनी चुड़ीदार गरम सुरयाल (पायजामा) की भीतर वाली जेब में डाला और बोले हँसते हुए- "थोकदार की भी बात है एक। अरे, अपने ही घर की जैसी बात नहीं होती, तो

---

१. मैला आंचल, पृष्ठ-१६९

२. चिट्ठीरसैन, पृष्ठ-१८०

घुमौली से इतनी दूर आता मै?" 'चिट्ठीरसैन' के थोकदार इस प्रयास में थे कि ऐसे लोगों की उपस्थिति अधिक हो, जो संकेत पाते ही नाथू हौलदार के लिए थू-थू करने लगें। कई लोगों-औरत-मर्द दोनों को उन्होंने कई वाक्य सिखा दिए थे कि ऐसा-ऐसा कहना। इसके अलावा थोकदार की यह इच्छा थी कि सरपंच भी वही हो, जो नरमी न बरते, इन्साफ की बारीकियों में न जाय, बल्कि थोकदार की बातों को ध्यान में रखते हुए, नाथू हौलदार की हालत खराब कर दे- "थोकदार ने यह व्यवस्था कर रखी थी कि जैसे ही नाथू हौलदार या आनसींग दोनों में से कोई एक, या दोनों-पंचायत से उठने लगें क्रुद्ध-अपमानित होकर तो कुछ लोग जाँठी (लाठी) लेकर खड़े हो जाएँ, कि 'खबरदार, नाथू ! यह हमारे सारे गाँव की बहू बेटियों की इज्जत-आबरू का सवाल है। या तो तू रमौती को पंचायत में हाजिर करके इन्साफ करवा, या यह वचन दे कि इकरारनामा लिखके इस गाँव से अपना मुंह काला कर, अपने गुनाहों की पंच-सरपंचो से माफी चाहता हूँ और प्रायश्चित् के लिए वचन देता हूँ कि ताबे-जिन्दगी अब अपना काला मुंह इस गाँव में किसी को नहीं दिखाऊँगा।'.....

आनसिंग और नाथू को पंचायत के सामने अधिक-से-अधिक लांछित अपमानित करके ही अपना बदला लिया जा सकता है,-नाथू हौलदार को गाँव से बाहर निकलने को मजबूर किया जा सकता है;- पंच-निर्णय से नहीं, थोकदार ने यह सोच लिया था। इसीलिए, उन्होंने इस सबके अलावा चार-पाँच औरतों को यह भी सिखा रखा था कि नाथू हौलदार के पंचायत में उपस्थित होते ही 'थू पापी, थू पापी' कहते हुए, अपने घरों को लौट जाएँ और अगर रमौती आ ही जाती है, पंचायत में, तो- थोकदार के पक्ष में न बोलने पर- उसपर भी तेजाब के जैसे छींटे फेंके जाँय। इस सिलसिले में, उन्होंने विशेष रूप से अपने हलिया देवराम शिल्पकार की घरवाली खिमुली को समझा रखा था- "मान लिया जाय, खिमुली, किरमौती चाहे किसी भी वजह से- याने घर के लोगों की डर से, या उनकी इज्जत के ख्याल से- पंचैत के अन्दर आकर नाथू हौलदार के झुटके से साफ इनकार कर देती है। तू तत्काल ऐसा करना, कि थू-थू करते हुए और यह कहते हुए घर को चली जाना अपने, कि-'हत् तेरी पापिणी की ! अरे, ऐसा घोर कलंक हम डुमणियों में भी कोई अपने सिर पर नहीं लगाता, बौज्यू के जो बरोबर माना गया है, उसी जिठाणे से

झुटका....?.... थू-थू.... तो खिमुली यह काम तेरे हाथ में रहा। डरना मत, किसी भी बात से। देवराम बिचारा भी कल से खूब मदद कर रहा है।मेरी और उधर सैमाधुर के नजदीक पड़ने वाले मलगजाँ की जो थोड़ी जमीन है, तेरी गुक्षैणियाँ कह रही थी, कि हमारे लिए तो बहुत दूर पड़ जाती है; बिचारी खिमुली का बड़ा परिवार है। खैर अब के ह्यून की फसल तो हमने बो ही दी है, मगर चौमास से तू कमा लेगी।.....''[१]

शैलेश मटियानी का व्यंग्य अत्यंत ही सजीव बन पड़ा है। पंचायत में लगने वाले नारों पर उनका व्यंग्य द्रष्टव्य है- ''संख्या ऐसे ही लोगों की ज्यादा थी, जिनका पूरा-पूरा ध्यान पंच-चबूतरे की ओर था और वो, 'बोल सियावर राम चन्द्रजी की की---या-'बोल महात्मा गाँधी की कहने पर जोर-जोर से 'जै-जै-जै' पुकारते थे, जैसे सियावर रामचंद्र और महात्मा गाँधी का नाथू हौलदार वाले मामले से बड़ा गहरा सम्बन्ध हो।[२]

दूसरी ओर नाथू हौलदार पंचायत पर व्यंग्य करते हुए कहता है- ''ईश्वर से अब भी डरता हूँ और दूसरे यहां पर- पलटन के हौफीसरों की जगह पर- परमपूज्य बौज्यू हैं मेरे और उन्हीं की ज़िद से और उन्हीं के डर से मैं इस 'दूसरे का घर जलाओ रे, अपनी छत पर बैठ कर धुँवा देखो।' वाली पंचैत में उपस्थित याने हाजिर हुआ हूँ।''[३]

रामदरश मिश्र के 'जल टूटता हुआ' में पंचायत की स्थिरता पर व्यंग्य किया गया है- ''गाँव में चर्चा थी कि, पंचायत राज्य आ रहा है, पंचायत तो कई बार कायम की गई इन गाँवों में, लेकिन टाँय-टाँय फिस हो गयी और सरपंच कोई भी हुआ, लांछन लेकर बिदा हो गया और फिर वही ढाक के तीन पात।..... यहां तो पंच-सरपंच सभी खाने-कमाने में लग जाते हैं और लगते है भाई-भतीजा देखने और पंचायत-संचायत मानता कौन है? पंच बदे जाते है, तीन-चार घंटे कहा-सुनी होती है, पंच महोदय सुनते रहते हैं, उनकी इतनी हिम्मत नहीं होती कि बकवास करने वालों को डाट कर दबा दें और चार-पाँच घंटे की बहस के बाद आपस में गाली-गलौज करते हुए मुद्दई-मुद्दालय घर चले जाते हैं और फिर वही चोरी-चिकारी,

---

१. चिट्ठीरसैन, पृष्ठ-१८६
२. वहीं, पृष्ठ-२११
३. वहीं, पृष्ठ-२१७

मार-झगड़ा, कर-कचहरी.....। सो यह पंचायत-वोंचायत नहीं चलने की। देखा नहीं, अभी दो साल पहले ही इस गाँव के और उस गाँव के कुछ एम.ए.बी.ए. लोगों ने, कुछ मास्टरों ने पंचायत कायम की और राशन तथा कपड़े का कोटा लिया और दो-एक लोगों ने सारा माल हड़प लिया। बड़े-बड़े भाषण करते हैं, ये लोग बड़ी ऊँची ऊँची बातें बघारते है मगर नीयत इतनी खोटी कि मौका पड़ने पर मख्खी निगल जाएँ। सो भाई, पंचायत-वोंचायत नहीं चलने की.....''[1] रामदरश मिश्र ने पंचायतों की अस्थिरता एवं उसके कारणों पर सहज कटाक्ष किया है। इन्हीं कारणों से पंचायत बेकार हो जाती है। ''जो अब तक ब्रिटिश सरकार के पिट्ठू जमींदार, मुखिया और दलाल रहे हैं, वे इस बहती गंगा में हाथ धोना चाहते हैं, वे आज देशभक्त हो गये हैं। वे पंच-सरपंच बनकर अपना उल्लू सीधा करने को और लोगों से बदला लेने की सोच रहे हैं। पंच बनने के लिए तरह-तरह की बुरी चालें चलते हैं। कहीं किसी का खेत कटवा रहे हैं, कहीं किसी को व्यभिचार में फंसा रहे हैं; कहीं और तरह से बदनाम कर रहे हैं।''[2] ग्राम सभा का चुनाव, ग्रामीण जन-मानस को आपसी अलगाव की प्रेरणा देता रहा है। विवेकी राय ने अपने आंचलिक उपन्यास 'लोक ऋण' में इस राजनीति-प्रेरित अलगाव की प्रवृत्ति पर सीधा व्यंग्य किया है। रामपुर गाँव के सौदागर तिवारी अपने गाँव में बढ़ते जा रहे विद्वेष से चिन्तित दिखायी पड़ रहे हैं- ''तो उस प्लेग से जितनी उदासी गाँव पर घहराती थी, उससे कई गुनी उदासी ..... लोगों के न मरने पर भी..... सभापति के चुनाव के बाद गाँव में बढ़े विद्वेष से फैल गई है।..... सौदागर तिवारी को वह सन् १९६० का सभापति वाला चुनाव क्या बराबर याद नहीं रहेगा? हाँ, तभी, तभी तो पहली बार गाँव में इतना अलगाव बढ़ा था!..... चुनाव कैसे जीत गया जिमदरवा, राम जाने! और जो नष्ट-भ्रष्ट हुआ, सो तो खूब हुआ, पंच-परमेश्वर के नाम पर सारे गाँव के साथ तिवारी भी उसी नरक में.....।[3] 'जल टूटता हुआ'

---

१. जल टूटता हुआ, पृष्ठ-१३९

२. वही, पृष्ठ-१९९

३. लोक-ऋण, पृष्ठ-४६

की शारदा पंचायत के फैसले क्षुब्ध है। वह कुंजू और बदमी के साथ की गई साजिश एवं अन्याय से बेहद दुखी है। वह जानती है कि उसके पिता दीनदयाल ने कुंजू और बदमी को जानबूझ कर फंसाया है। वह रोती है क्योंकि उसे कुंजू और बदमी पर किया गया अन्याय सहन नहीं होता। वह एकांत में जा कर रोना चाहती है। उसके जी में जाने कैसा-कैसा हूल उठ रहा था- "...यह पंचायत क्या आ गई, मुसीबत आ गई। कुंजू बेचारा कितना गरीब है? उसे फंसाने की क्या जरुरत थी? सतीश चाचा तो बहुत भले आदमी हैं, उनसे लड़ने की क्या जरुरत थी? बाबूजी से उसने दबी जुबान से उस दिन कहा था तो वे बोले- 'बेटा, यह सब राजनीति है, तुम्हारा काम नहीं है, इसमें दखल देने की जरुरत नहीं, तुम नहीं समझोगी.....। हाँ, वह नहीं समझती है, सचमुच राजनीति नहीं समझती है, मगर इतना तो समझती है कि, इस राजनीति में जो बदमी की बेपर्दगी हुई, कुंजू की बदनामी हुई, खराब-खराब बातें कही जा रही हैं, वे अच्छी तो नहीं है।"[१] इस प्रकार गाँव के गरीब और असहाय वर्ग को सताना पंचों का कर्तव्य-सा बन चुका है। वे अपने अधिकारों का खुलकर प्रयोग करते हैं और अपने कर्तव्य को पूरी निष्ठा से साथ निभाते हैं। अत: स्पष्टत: कहा जा सकता है कि आंचलिक उपन्यासकारों ने आंचलिक राजनीति की विषमताओं एवं विकृतियों पर सफल एवं स्वाभाविक व्यंग्य प्रहार किया है। विभिन्न उपन्यासकारों ने भिन्न-भिन्न तरीकों से राजनीतिक व्यंग्य का सहारा अपनी अभिव्यक्ति में लिया है।

आंचलिक हिन्दी उपन्यासों में विभिन्न आंचलिक क्षेत्रों में सम्पन्न होने वाले छोटे-बड़े सभी तरह के चुनावों में व्याप्त राजनीतिक विसंगतियों पर तीव्र व्यंग्य किये गये हैं। स्वतंत्रता के पहले जो लोग ब्रिटिश हुकूमत के पिटठू थे, वही लोग स्वतंत्रता के पश्चात् भी देश को लूटने-खाने में सक्रिय रूप से संलग्न हो गये। नेताओं की इस मनः स्थिति को व्यंग्यकारों ने तीखी वाणी प्रदान की है। "कौन नहीं जानता महीप सिंह को? इस इलाके के भारी जमींदार, ब्रिटिश सरकार के पक्के हिमायती, प्रजा के बड़े दुश्मन, अपनी झक के अन्धे, कौन नहीं जानता उन्हें? जनता सोचती

---

१. जल टूटता हुआ, पृष्ठ-१९२

थी कि आजादी मिलने पर इन देश-द्रोहियों को फाँसी मिलेगी, इनकी जमीन गरीबों को बाँट दी जाएगी; मगर इन वर्षों में कुछ और ही तस्वीर सामने आयी। बाबू महीप सिंह कांग्रेस के मेंबर हो गए, नेताओं की निगाह में कांग्रेस के प्रिय व्यक्ति। यही नहीं, जिला-बोर्ड के सदस्य भी बन गए। पहले ब्रिटिश सरकार के अफसरों को फलों की डालियाँ भेजते थे, अब आजादी के दिन स्कूल के बच्चों के बहाने कांग्रेस सरकार को लड्डू की डालियाँ भेजते हैं। मगर यह भी कौन समझे कि ये लड्डू सरकार की ओर से है या महीप सिंह की ओर से। हो सकता है जिला बोर्ड ने बच्चों को मिठाइयाँ बाँटने के लिये पैसे दिये हों और महीप सिंह ने कुछ पैसे बचा भी लिये हों।''[१]

प्रत्याशियों के चयन में कोई निश्चित योग्यता-प्रणाली न अपनाये जाने के परिणामस्वरूप राजनीति में बेईमान ठेकेदार, पथभ्रष्ट क्षेत्रीय नेता, पूँजीपति और तथाकथित सामाजिक कार्यकर्ता शासन-तंत्र पर आधिपत्य जमा बैठे। राजनीतिक दलों ने उन्हीं महानुभावों को टिकट भी दिये जो चन्दे के रूप में मोटी-मोटी रिश्वतें दे सकते थे, जो दलीय नेताओं के रिश्तेदार थे, अथवा जो उनके द्वारा पोषित थे। क्षेत्रीय नेताओं ने अपने प्रभाव के कारण समस्त राजनीति पर हावी होने का हर संभव प्रयास किया। आंचलिक उपन्यासों में इन विसंगतियों पर करारा व्यंग्य किया गया है। ''अंग्रेजी राज्य में ये सरकार के पक्के खुशामदियों में से थे-इन्होंने गाँव-गिरांव के क्रान्तिकारियों और कांग्रेसियों के नाम सरकार को दिये थे। हर मौके पर दरोगा की जेब इन्होंने गरीब लोगों से भरवायी और कांग्रेसी राज्य में इन्हें कपड़े और राशन का कोटा मिला है। अंग्रेजी स्कूल खुला तो पचीस रुपये देकर उसके सभापति बन गए।''[२]

जिनके पास पूँजी है, जिनकी पहुँच है, उन्हीं का सब कुछ है। ''पैसे वालों को खेत मिल रहे हैं, पैसे वालों को व्यापार मिल रहा है, मकान मिल रहा है, दुकान मिल रहे हैं, चुनाव के लिए टिकट मिल रहे है, पद मिल रहे हैं, शिक्षा मिल रही है.....।''[3] रामदरश मिश्र द्वारा

---

१. जल टूटता हुआ, पृष्ठ-७

२. वही, पृष्ठ-१२२

३. वही, पृष्ठ-२२४

रेखांकित यह विसंगति सार्वजनिक रूप से आज समस्त देश में राजनीति का एक अभिन्न अंग बन चुकी है। कुर्सी की लालच ने राष्ट्रीय नेताओं को इतना अकर्मण्य बना दिया है कि उसे पाने के लिए वे किसी भी सीमा तक गिर सकते हैं। यह एक नशा है जो आंचलिक अथवा क्षेत्रीय नेताओं को भी नहीं छोड़ती। विवेकी राय ने अपने उपन्यास 'सोनामाटी' में देश के ऐसे ही कर्णधारों पर व्यंग्य किया है- "देश की चिन्ता तो बस थैलीशाह और कुर्सीशाह लोगों को है। अरे, यह देश क्या इन्हीं लोगों का है? वे मुठ्ठी भर महाजन अथवा सामन्त-से प्रशासक या मोटे नेता जो देश के भाग्य से खिलवाड़ कर रहें हैं; जिनके पास मुठ्ठी भर अन्न और गज भर वस्त्र के लिए बिलबिलाते फुटपाथी जीवों के लिए बड़े-बड़े आदर्श और लम्बी-चौड़ी भाषणमाला है, जो अपने स्वार्थ के लिए साम्प्रदायिकता; क्षेत्रीयता और जातिवाद का मर्मघाती जहर फैलाते शर्म का अनुभव नहीं करते, वे क्या कुर्सी के लिये देश को बेच नहीं देंगे?[१]

इसी प्रकार 'रेणु' जी ने 'मैला आंचल' में नेताओं की योग्यता एवं चरित्र पर क्षोभ प्रकट किया है। बावनदास, बालदेव को याद दिलाता है- "चानमल मड़वाड़ी के बेटा सागरमल ने अपने हाथों सभी भोलटियरों को पीटा था; जेहल में भोलटियरों को रखने के लिए सरकार को खर्चा दिया था। वहीं सागरमल आज नरपत नगर थाना कांग्रेस का सभापति है। और सुनोगे..... दुलारचंद कापरा को जानते हो न? वहीं जुआ कम्पनी वाला, एक बार नेपाली लड़कियों को भगाकर लाते समय जो जोगबनी में पकड़ा गया था। वह कटहा थाना का सिकरेटरी है। भारथमाता और भी, जार-बेजार रो रही है।"[२] विभिन्न राजनीतिक दलों के नेता अपनी प्रतिष्ठा और वर्चस्व बनाये रखने के लिए मूर्ख या अपराधी किस्म के प्रत्याशी, जनता पर लाद देते है, इसे वे अपनी प्रतिष्ठा समझते हैं। अब जनता के समक्ष यही विकल्प रह जाता है कि वह कुछ मुर्खो अथवा अपराधियों में से किसी एक को चुन ले। जनता उन्हीं में से किसी एक को चुनने के लिए विवश होती है। देश के उच्च एवं गौरवपूर्ण पदों पर गुण्डों का अधिकार होता जा रहा है। स्वतंत्र देश की राजनीति के साथ-साथ

---

१. सोनामाटी, पृष्ठ-१२५

२. मैला आंचल, पृष्ठ-७

सामाजिक व आर्थिक क्षेत्रों में भी राजनीतिक नेताओं का प्रभाव बढ़ा; फलस्वरूप जिला, तहसील और ग्रामीण स्तर पर भी घटिया नेताओं का वर्ग उत्पन्न हो गया। चुनाव में भ्रष्ट, अनपढ़, बेकार लेकिन सम्पत्ति सम्पन्न व्यक्तियों को टिकट दिया जाने लगा या फिर उन्हें दिया जाता जो साम, दाम, दण्ड, भेद से निर्वाचित होने का पराक्रम दिखा सकते थे। जो इस प्रणाली का विरोध करते उनका मुंह हिंसा के बल पर बन्द कर दिया जाता। शहर से लेकर गाँव तक में सिद्धान्तहीन और आदर्शहीन राजनीति का बोलबाला हो गया। आंचलिक उपन्यास 'कब तक पुकारूँ' में रांगेय राघव ने इस विकृत व्यवस्था पर व्यंग्यपूर्ण टिप्पणी किया है- "यहाँ अहंकार, धन का, कुल का, जाति का, ओहदे का, सब एक-एक को ग्रसे हुए हैं। अयोग्य व्यक्ति किसी तरह खुशामदों से ऊपर चढ़ गये हैं, कुनबापरस्ती चल रही है और फिर अपनी अयोग्यता को वे अहंकार में छिपाकर अपनी ही जड़ता को शाश्वत बना देना चाहते हैं। तर्क और सत्य के उज्ज्वल आलोक को सह सकना उनके लिए असंभव है क्योंकि उनके स्वार्थो का पर्दाफाश होता है और एक की पोल में दूसरे की पोल ऐसी घुसी हुई है कि सब उस पर पर्दा डाले रहना चाहते हैं।..... यहाँ स्वाभिमान का कोई मूल्य नहीं है। स्वाभिमान का अस्तित्व उनमें बाकी है जो मृत्यु के पंजों में पंजा फंसाये लड़ रहें हैं। क्रान्ति के नाम पर यहाँ अवसरवादी और चोरों की जमात पल रही है। यहाँ सुधार का बीड़ा उठाने वाले वही हैं जो पाप के ठेकेदार हैं। सब जानते हैं फिर भी ऐसे ही लोग शासन करते हैं, क्योंकि जनता अभी नहीं जागी है, वह सिंह अभी अपनी मर्यादा को पूरी तरह से पहचान कर गर्जन नहीं कर सका है, जिसकी एक प्रतिध्वनि सुनकर ही यह दूसरों के खेतों को चरने वाले पशु चौकड़ी भर कर भागते हैं। दो-दो कौड़ी के मेधावी बनने वाले छुटपूंजिए आज ज्ञान की गद्दियों पर बैठ कर अपने को संस्कृति का दावेदार कहते हैं।"[१]

'बलचनमा' के स्वामीजी नेताओं की असलियत बयान करते हुए किसानों से उनकी व्यंग्यपूर्ण कड़ी आलोचना करते है - " बाहरी लीडरों के भरोसे में मत रहिए, अपना नेता आप खुद बनिए। मँगनी और उधार के बाहरी नेता बहुत देखे मगर कुछ हुआ-हवाया नहीं। माना कि नेता

---

१. कब तक पुकारूँ, पृष्ठ-३५२

पढ़े-लिखे होते है और आप अपढ़ा-अनजान, लेकिन गेहूँ-चावल, दूध-घी, तिलहन-कपास सब कुछ आप ही पैदा करते हैं, लीडर लोग तो आपकी ही कमाई का 'हेलवा' खाकर लेक्चर देने आते हैं, और अपने दिमाग व पेट की बदहजमी मिटाते हैं। आप अकल से इतना तो जानते ही हैं कि, लेक्चर चाहे लाख दे जाय, उससे न एक दाना चावल पैदा होता है, न गेहूँ और न घी-दूध ही। लेक्चर सुन के भूख-प्यास नहीं मिटती। आप लोग लीडरों से लाख दर्जे अच्छे हैं। आप सब कुछ पैदा करते हैं तो अपना लीडर भी अपने ही यहाँ पैदा कीजिए। जो आपका आदमी होगा वहीं आपकी तकलीफों को समझेगा, जाके पाँव न फटी बिवाई, सो क्या जाने पीर पराई!..... 'कांग्रेस आपका दु:ख-दर्द क्या समझेगी? वह खादी पहनाकर और गले में माला डालकर जमींदारों को जेल भेजने का नाटक करती है। पीछे जेल से निकले वहीं जमींदार कांग्रेसी आप लोगों को शान्ति और सन्तोष का सबक सिखाते हैं..... खबर्दार! भाइयों, ऐसे लीडरों के फेर में कभी मत पड़ना..... आप अकेले नहीं हैं, करोड़ों की तादाद है आपकी। आप जब उठ खड़े होंगे और एक कंठ होकर हुँकार करेंगे तो जालिम जमींदारों का कलेजा दहलने लगेगा। वे हैं ही कितने, दाल में नमक के बराबर! अपने बल पर नहीं, सरकारी अफसरों के बल पर ही जुल्म करते हैं।''[१]

'नागार्जुन' ने 'बाबा बटेसरनाथ' में देश की आजादी पर प्रश्नचिन्ह लगाया है- ''आजादी! फि:! आजादी मिली है, हमारे उग्रमोहन बाबू को, कुलानन्द दास को..... कांग्रेस की टिकट पर जो भी चुने गए हैं उन्हें मिली है आजादी। मिनिस्टरों को तो और ऊँचे दर्जे की आजादी मिली है। सेक्रेटेरियट के बड़े साहबों को भी आजादी का फायदा पहुँचा है''।[२] उन्होंने कांग्रेस की कटु आलोचना की है- ''बहुत सारे आज के कांग्रेसी गरीब घराने के हैं, मगर बाबू लोगों का रंग-ढंग तो देखो जरा!..... कांग्रेस किन वर्गो का संगठन थी और क्यों नहीं वह हम किसानों की एक भी समस्या हल कर सकी? जमींदारों, सेठों और वकीलों-बालिस्टरों की यह जमात खुली तौर पर तब भी कहाँ खेतिहारों को अपने संगठन में घुसने

---

१. बलचनमा, पृष्ठ-१५०

२. बाबा बटेसरनाथ, पृष्ठ-१२७

देती थी?''[1]

चुनाव के समय प्रत्याशीगण, गरीब तथा अनपढ़ मतदाताओं को धन आदि के बल पर खरीद लेते है। अपने मत का मूल्य न आँक सकने वाला मतदाता धन के लोभवश अपने बहुमूल्य मत को नीलाम कर देता है।

उपन्यासकार 'मनहर चौहान' ने अपने उपन्यास 'हिरना साँवरी' में वोट डालने-डलवाने के तरीकों पर सुन्दर एवं तीखा व्यंग किया है- ''दानीपुर में भोटिंग होने वाले दिन के पहले ही पोलिंग का नाटक (रिहर्सल) किया गया, भोट कैसे डालने चाहिए, वगैरह सबको समझाया गया। दानीपुर में पढ़े -लिखे ज्यादा नहीं थे। ज्यादातर लोग गँवार थे, जो अपनी किस्मत की राह टटोलते गावों से यहाँ आए थे। उन्हें पता भी नहीं था, भोट किस चिड़िया का नाम है। उन्हें क्या, मुझे भी कुछ न मालूम था, भोट कैसे और क्यों डाले जाते हैं। रामलखन ने पूरी बात मुझे समझाई तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ, कि पेसीडेंट और वारड के मिम्बर चुनने का यह तरीका कितना आसान और अच्छा है!..... 'चलो मंडल भेट डार आओ। लालजी को भोट देना। टुरी अऊ टुरी के माँ को भी समझा दो।..... फिर मैंने देखा, उसने ददा के हाथ में छह रुपये रख दिये।.... . 'एक भोट के दू रुपया! वाव्वा भाई वा!'- दद्दा बुदबुदा रहे थे।'' सुना हिरना के दाई, भोट लाला जी को देबे। बिचारा इतना खरच करत हवै।''[2] जहाँ इस तरह से काम नहीं चलता, वहाँ उन्हें फुसलाकर, मजबूर कर अथवा डरा-धमकाकर काम में लाया जाता है-'' पट्टी मालिकान से लगी सोनार टोली के दो सौ से ऊपर भोट को दीनदयाल और गजिन्दर सहित हनुमान प्रसाद के गुण्डों ने घरों से बाहर निकलने ही नहीं दिया और पोलिंग बूथ पर कब्जाकर सारा मत जो बिरोध में जाता, एक तरफा गिरवा लिया। बदनाम बदमास सालिका और देवमुनियाँ के साथ गजिन्दर अपने पिता को और कुछ अन्य गाँव वालों को लेकर सोनार टोली में पहुँचा था, हाँथ जोड़े, दात चिआरे। सोनार भाइयों, हमारी इज्जत आप लोगों के हाथ में है। बोलिए क्या मर्जी होती है? स्वाभाविक है कि लोग कहेगे, आप जहाँ कहेंगे, भोट दिया जाएगा। यही गाँव का नियम है। सबको हाँ

---

१. बाबा बटेसरनाथ, पृष्ठ-१४०

२. हिरना साँवरी पृष्ठ-१९४

किया जाता है। सो, ये लोग चटपट उनका स्वीकृति को तोड़-मरोड़कर भजा लेते हैं। भाइयों, यदि आप हमें वोट दे रहे हैं, तो आप को तलीफ़ करने की जरुरत नहीं। हमने मान लिया कि वह मिल गया। आप लोग अपने-अपने घरों में रहें। कोइ तमासा देखने भी न जाय। आप लोगों से यही प्रार्थना है, यही हथजोरी है।.... लेकिन इस हथजोरी का रहस्य सोनार टोली के लोगों से तब छिपा नहीं रहता है। पट्टी मालिकान वाली खोर जिससे वे बाहर निकलेगें, के दोनों छोर पर, दक्षिण ओर मन्दिर पर और उत्तर ओर गोपी बनियाँ के घर के पास नीम तले लट्ठधारी बैठे हैं। मामला हथजोरी के आड़ में सिर तोड़ाई का है। निकले तो सोनार टोली का कोई वोटर घर से बाहर?... न्याय, निष्पक्षता, हक और समानाधि-कार ..... क्या मजाक है? मतदान केन्द्र पर लोकतंत्र की लाश निकल गयी। किसका वोट कौन दे रहा है? कितनी बार दे रहा है?''[१] विवेकी राय का यह व्यंग्य चुनावी-राजनीतिक विकृतियों का नग्न चित्र खींच देता है।

चुनावों के पहले नेताओं के गोल-गोल और लुभावने भाषण, सरकार की मजबूरियाँ, झूठे आश्वासन और दुनिया भर की वाहियात बातें, भोली-भाली, अशिक्षित गरीब जनता को उल्लू बनाने के लिए पर्याप्त होती है। किसी तरह चुनाव जीत जाने के बाद वे जनता की समस्याओं एवं उसे दिए गए आश्वासनों को शीघ्रातिशीघ्र भूल जाने के लिए विवश हो जाते हैं और अपने निजी स्वार्थपूर्ति में दिल खोल कर लग जाते हैं। चलो अपना उल्लू सीधा तो हो गया; अब जनता से भला क्या लेना-देना। फिर चुनाव आएगा तो देखा जाएगा। नेताओं की इस विकृत एवं निक्रिष्ट मानसिकता पर 'मनहर चौहान' ने व्यंग के माध्यम से वोट खरीद कर चुनाव जीतने जैसी विसंगति पर चोट किया है। 'हिरना साँवरी' के 'लाला जी' अबकी बार फिर से चुनाव में खड़े हो रहे हैं- ''कई बार मैनें सुना था कि, वह बहुत मक्कार है। उन्होंने मुन्सीपाल्टी का चुनाव पाँच साल पहले जीता था। उस समय उनके पास कोई पैसा नहीं था। वह जनता के लाड़ले थे और खुद जनता ने उन्हें चुनाव में खड़ा किया था, उन्हें जिताया भी था। लेकिन पेसीडेन्ट होने के बाद वह बहुत बदल गए थे। उन्हाने केवल अपने आदमियों को दफतर में भर्ती किया और जनता की पैसों की

१. सोनामाटी, पृष्ठ-३११

मनमानी लूट मचाई।.....

उन्होंने वादा किया था कि वह शहर की कच्ची सड़कों को पक्की करवाएँगे लेकिन कुर्सी मिलते ही वह अपना वादा भूल गए। कच्ची सड़कों की हर साल मरम्मत होती लेकिन उन्हें पक्का न करवाया जाता। अनाज की मण्डी होने के कारण दानीपुर में बहुत सी बैलगाड़ियाँ थीं जिनके चक्के सड़क की छाती पर हुमच-हुमच कर रोज नये गड्ढे बनाते। लाला जी ने कई वादे किए थे, ढ़ोर इस्पिताल को बड़ा करने का, नया गंज (खुली मंडी, जहाँ अनाज बिकता है) खुलवाने का, पारक लगवाने का-और भी न जाने क्या-क्या, लेकिन किया कुछ नहीं था।

जब फिर से चुनाव हो रहा था तो उनके पास अपना मकान और एक काली कार थी।''[१]

रामदरश मिश्र ने 'जल टूटता हुआ' में एम.एल.ए. काली प्रसाद पाण्डे की सफलताओं एवं उनके द्वारा किए गए कार्यो पर व्यंग्याक्षेप किया है- ''काली प्रसाद पाण्डे इस खित्ते के एम.एल.ए. हैं। पुराने कांग्रेसी कार्यकर्ता है। ऐंठ-ऐंठ कर बोलते हैं। पहले होमियोपैथी के डाक्टर थे । डाकटरी नहीं चली तो स्वाधीनता संग्राम में शामिल हो गये, फटेहाल फिरते रहे। और अब एम.एल.ए. हैं। गोरखपुर में दो-दो कोठियाँ बनवा ली है, घर के पास बहुत बड़ी जमीन को (जो एक दूसरे आदमी की थी) कब्जे में कर लिया है। राजनीतिक पीड़ित के नाम पर तराई में चालीस-पचास एकड़ जमीन प्राप्त कर ली है। बड़े सात्विक वृत्ति के आदमी हैं। पचास वर्ष के हो गए हैं,..... नियम से इसबगोल की भूसी खाते हैं, इसीलिए बुढ़ौती में लाल गाजर बने हुए हैं। लोग कहते हैं कि इनका पौरुष कुछ स्त्रियों से नया सिलसिला जोड़े हुए है और खानदानी परम्परा का निर्वाह कर रहा है। उनका योग्य बेटा दो बार थानेदारी से मुअत्तल किया गया और दोनों बार कालीप्रसाद जी ने अपने पुण्य प्रभाव से उसे उसके पद पर बरकरार कर दिया। वे इस जवार में केवल वोट के ही टाइम पर आते हैं। पिछली बार बाढ़ में भी आये थे घुघरी बाँटने के लिए।....''[२]

---

१. हिरना साँवरी, पृष्ठ-१९२

२. जल टूटता हुआ, पृष्ठ-२९३

राजनेताओं ने स्वतंत्रता से प्राप्त आर्थिक श्रोतों को जोंक की भाँति चूसना आरंभ कर दिया था। त्याग और सेवा का स्थान स्वार्थ-वृत्ति और धनलिप्सा ने ले लिया। कुछ नेता अवसरवादी हो गये जो समयानुसार स्वयं को ढ़ालते रहे। स्वतंत्रता पूर्व उनकी निष्ठा विदेशी शासकों के प्रति थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात उनकी निष्ठा ने करवट ली और देशी शासन के वफादार हो गये। वे राजनीतिक दलों में सदस्य भर्ती करवाकर नेता बन बैठे और आर्थिक लाभ के पदों पर प्रतिष्ठित हो गये उनके पास अब इतना धन इकट्ठा हो चुका है कि, पुश्त-दर-पुश्त बैठकर खा सकती है। कम से कम इस बात से तो वे निश्चिन्त हो चुके हैं। 'सोनामाटी' का हनुमानप्रसाद सुपरवाइजर की बातों में हस्तक्षेप करते हुए मंत्रियों, उच्चाधिकरियों तथा उद्योगपतियों आदि पर व्यंग्य करते हुए कहता है- "हर लुटेरा चाहे वह नेता है, मंत्री है, उच्चाधिकारी है, उद्योगपति-व्यवसायी है या स्मगलिंग वाला है, कितनी चाँदी काट रहा है। धनी का बेटा धनी होता है। बैरिस्टर का बेटा कलक्टर होता है। मन्त्री का दामाद कमिश्नर होता है। क्या दरिद्र हरिश्चन्द्रों के कफन खसोट बेटे कोठी-कार वाले हो जाते हैं? नहीं, कोठी-कार वाले ही कोठी-कार वाले होंगे। जमीन वाले ही ट्रैक्टर-ट्यूबवेल वाले होंगे, बड़े-बड़े चक और बिगहा-बिस्वा वाले होंगे, और अपनी कूबत से होंगे।"[१]

जिस अंचल में विभिन्न जातियों के लोग अलग-अलग समूह में रहते हैं वहाँ जातीयता क्षेत्रीय अथवा ग्रामीण चुनावों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। प्रत्याशियों के चयन से लेकर उनके निर्वाचित होने तक, उनके क्षेत्रों में उनकी जाति-विशेष के मतदाताओं की संख्या तथा उनमें उनकी लोकप्रियता को ध्यान में रखा जाता है। यद्यपि निर्वाचनों में संवैधानिक दृष्टि से जातिवाद को कोई स्थान नहीं प्राप्त है किन्तु प्रत्याशी जातिवाद के नाम पर वोट माँगते दिखाई पड़ते हैं। मतदाता भी अपनी जाति के उम्मीदवार को दूसरे उम्मीदवार से ज्यादा महत्व देता है, चाहे उसकी जाति वाला प्रत्याशी अयोग्य ही क्यों न हो। निर्वाचनों में अधिकांशतः सवर्ण जाति के ही प्रत्याशी खड़े होते हैं। राजनीतिक उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए सवर्णो एवम् अत्यन्त निम्न वर्णो में वे झगड़ा करवाते हैं। परिणामतः निम्न वर्ग को अत्याचारों का निशाना बनना पड़ता है।

१. सोनामाटी, पृष्ठ-९२

निर्वाचनों में विभिन्न जातियों के गुटों के मध्य प्रत्यक्ष और परोक्ष रुप से गाली-गलौज, मारपीट का बाजार गर्म रहता है। कहीं-कहीं तो हरिजनों को डंडे के बल पर वोट नहीं डालने दिया जाता। कहीं सवर्ण जाति के प्रत्याशी के पक्ष में वोट डलवा लिए जाते हैं। उनके मध्य खाई और गहरी होती चली जाती है, जिसे पुनः पाट पाना असंभव लगने लगता है। 'सोना माटी' में विवेकी राय ने इस विसंगति पर गहरा चोट किया है- "ओह, अपने देश में एक लूटने वाला समुदाय कितना सक्रिय है, कैसी-कैसी लूट होती है? वोटों की लूट का मामला सामने ही गुज़रा।..... अपनी पार्टी के प्रमुख स्तम्भ गुरूवर महंथ ऐन मौके पर कैसे बदल गये? गुरु ही क्यों, मित्र ऐसे लुट गया, परिवार वैसे लुट गया। जातिवाद के चक्कर में पुरोहित लुट गया, देहाती सरदारी के फेर में अपने भाई.... दयाल लुट गये और दबाव में चँपकर रामरुप की प्रेमिका लुट गयी।.... चुनाव के मुख्य मुद्दे ऐसे हो गये कि किस जाति का प्रधानमन्त्री? राजनीतिवाद नहीं, असली तथ्य जातिवाद। राजनीतिक समझौते या गठबन्धन नहीं, जातिवादी समझौते और गठबन्धन। अपढ़-गंवारों के क्षेत्र में मशगूल है कि ठाकुर बिरादरी किसके साथ? ब्राह्मण किसके साथ? तुम अमुक पार्टी में अपना वर्चस्व और राष्ट्रीय विकल्प खोजो, तुम अमुक दल में अपनी शक्तिशाली राजनैतिक धारा को खोजो,..... खोजो अपने आस्तित्व की समूची छवियों को विशेष-विशेष जातियों के ही इर्द-गिर्द। क्षेत्रीय बिरादरीवाद को राष्ट्रीय बिरादरीवाद में परिणत हो जाने दो। जाति-विशेष के लीडर की कल्पना ही राष्ट्रीय लीडर के रूप में करो। इसे 'जिन्दा रहने की लड़ाई' की संज्ञा दो। गरीबों के गामांचलों में इस जातिवादी रंग को निखरने दो ताकि आर्थिक स्तर वाली जीवन संघर्ष की कठिन मार भूली रहे। सारा हिसाब-किताब जातिवादी कि जैसे इस जिले में हर पाँचवा वोटर हरिजन है, कि जैसे इस जिले में मुसलमान, अहीर, राजपूत और भूमिहार ब्राह्मणों के वोट लगभग बराबर हैं, कि जैसे इस जिले में मुसलमान इन्दिरा गांधी के साथ हैं।..... धत्तेरे की, दो-ढ़ाई दशक के भारतीय लोकतंत्र की यही उपलब्धि रही है, जातिवादी गन्दगी?"[१]

स्वार्थ सिद्धि के लिए सवर्ण नेतागण हरिजनों एवम् अन्य कमज़ोर,

१. सोनामाटी, पृष्ठ-३१३

गरीब वर्गों के द्वार पर जा-जाकर वोट की भिक्षा माँगते हैं। यहाँ इन्हें आसानी से स्वीकृति मिल जाती है किन्तु चुनाव खत्म हो जाने के बाद वही नेता उन असहाय एवम् पीड़ित गरीबों पर अत्याचार भी करते-कराते हैं। 'जल टूटता हुआ' की लवंगी ब्राह्मणों द्वारा हरिजनों पर किये जा रहे अत्याचार को सहन नहीं कर पाती और हरिजनों के नेता जग्गू पर उबल पड़ती है- "क्यों नेताजी, आप चुप क्यों हो? कल तक झंड़ा लिये घूमते रहे और वोट दिलाने के लिए लेक्चर झाड़ते रहे कि अब देश आजाद हो गया है, सभी बराबर हैं, सबको खेत मिलेंगे, सबकी इज्जत बराबर होगी और आज आपका लेक्चर आपके मुँह में चला गया है?.....

हरिजनों के नेता, मैं तुमसे फरियाद करती हूँ कि वोट लेने वाले नेताओं से जाकर कहो कि हमारा खून, खून नहीं है, हमारी इज्जत, इज्जत नहीं है तो हमारा वोट ही वोट क्यों है?[१] यह विसंगति आज देश के कोने-कोने में फैल चुकी है। और राजनीति की एक महत्वपूर्ण हथियार बन चुकी है।

निर्वाचन से पूर्व सत्ताधारी और विरोधी दल के नेता चिल्ला-चिल्लाकर अपने व्याख्यानों में एक-दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप लगाते हुए जनता को यह समझाने की कोशिश करते हैं कि, देश में हर प्रकार का अभाव है, देश डूब रहा है, देश में बेरोजगारी बढ़ रही है। देश को डूबने से कोई नहीं बचा सकता। ये नेतागण बारी-बारी से आकर अपने-अपने भाषणों से जनता को लुभाने, फुसलाने का भरसक प्रयत्न करते हैं। रामदरश मिश्र ने ऐसे ही एक भाषण पर तीखा व्यंग्य किया है - "अध्यक्ष ने भी अपने भाषण में वही गोल-गोल बातें की। कोई आश्वासन नहीं, समाधान नहीं; केवल सरकार की सफलताओं और मजबूरियों की गुण-गाथा, बीच-बीच में गाँधी और नेहरू के नाम की छौंक। फिर बैठ गए।"[२]

भाषणों में लोग क्या-क्या करते हैं, क्या-क्या कहते हैं। वोट माँगने के लिए मिन्नते करते है, वे कुछ भी कर सकते हैं। सोनामाटी के रामरुप के आँखों के सामने अनेक नेताओं के भाषणों के दृश्य घूमने लगते हैं- "भारतीय शिष्टाचार, विनम्रता और शील का उपयोग ढाल की

---

१. जल टूटता हुआ, पृष्ठ-२३५

२. वहीं, पृष्ठ-२९४

भांति होने लगा है। हाथ जोड़ेंगे, दांत चिआरेंगे, गधों को माई-बाप कहेंगे। नये लोग मौका देने के लिए कहेंगे। पुराने लोग गलतियों के लिए माफी माँगेंगे। पैरों पर टोपी रख देंगे। कान पकड़कर उठे-बैठेंगे। बिरादरी की दुहाई देंगे। माहौल बना, हवा का रुख माफिक करेंगे।''[1] विवेकी राय की यह व्यंग्योक्ति बिलकुल स्वाभाविक है। 'कब तक पुकारुँ' में राँगेय राघव ने भी नेताओं के भाषण तथा उनके द्वारा किए गए आश्वासनों पर व्यंग्य किया है- ''बड़े-बड़े नेता तुम्हें भाषण देते हैं। वे तुम्हें नीति और धर्म की बात सुनाते हैं। कोई तुम्हें कोई पुड़िया देता है, कोई तुम्हें कुछ देता है। पर यह सब फरेब की बुनियादों पर खड़े महल है।''[2]

शिवप्रसाद सिंह ने भी 'अलग-अलग वैतरणी' में चुनावी भाषणों पर करारा व्यंग्य आरोपित किया है। किसी अच्छे खासे आदमी से तो अच्छा है कि उम्मीदवार के रूप में कोई बहरा आदमी ही खड़ा हो। लोचन चपरासी को लेकर हरि मास्टर और जद्दू बाबू आपस में चुटकियाँ लेते हैं। हरि मास्टर जद्दू बाबू से कहता है- ''बहरा होना कितना अच्छा है सर। लोचन को बेवकूफ नेताओं के झूठे भाषण नहीं सुनने पड़ते। वह किसी का उपदेश नहीं सुनता। फिर यह कि वह किसी की चापलूसी भी नहीं करता। न तो वह किसी की निन्दा करता है, न किसी का पक्षपात। वह बिल्कुल स्वतंत्र आदमी है सर!''[3] भाषण वोट बटोरने का भी एक अच्छा तरीका था किन्तु अब जनता भाषणों से तंग आ चुकी है। भाषणों का अब कोई अस्तित्व नहीं रह गया है। भाषण तो एक मात्र औपचारिकता रह गयी है, अशिक्षित जनता को उल्लू बनाने का एक सस्ता साधन है किन्तु नेताओं के लिए उसका उतना ही महत्व आज भी है। 'जल टूटता हुआ' का सतीश मन ही मन सोचता है- ''ऐसे ही कितने भाषण गांधी जी के, नेहरु जी के.....हे राम, भाषणों में हमारा देश कब तक जिएगा? इतने दिनों बाद भी आजादी क्या लायी? जग्गू हरिजन जो बड़े-बड़े नेताओं के जूठे भाषण अपने मुंह में दबाकर हरिजन मंडली में फिरते थे, तिरंगा उठाए, झोली लटकाये और उन भाषणों को अपने ढंग

१. सोनामाटी, पृष्ठ-२८६

२. कब तक पुकारूँ, पृष्ठ-३५१

३. अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ-१९२

से उगलते थे और वे नेताओं के लिए वोट बटोर लाते थे- आज भी बटोरते हैं।''[1] रामदरश मिश्र का यह व्यंग्य चुनावी भषणों पर करारा चोट करता है। 'हिरना सांवरी' में मनहर चौहान ने भाषण और उसकी प्रतिक्रिया का व्यंग्यात्मक चित्र प्रस्तुत किया है- ''मुरारी दाऊ ने जब भी भासन देने की कोशिश की, खूब हुल्लड़ मचा । मंच पर पथ्थर और जूते फेंके गये। उनको भासन करने का मौका ही न मिल पाता।..... जो मुरारी दाऊ जनता में इतने भले समझे जाते हैं, उन्हीं का इतना विरोध क्यों हो रहा है ? जिन लाला जी की हर समय नुक्ताचीनी होती रहती थी, वह जनता के इतने लाड़ले क्यों बन रहें है?''[2] इसी तरह शैलेश मटियानी ने अपने आंचलिक उपन्यास 'हौलदार' में अलमोड़ा के कांग्रेस लीडर न्यारे लाल और साथी विपिनचन्द्र पांडे के हाव-भाव, हुलिया, उनके चरित्र एवं भाषणों पर कटु व्यंग्य किया है- ''आड़ी मांग वाली बुलबुलों के ऊपर, तूफान की लपेट में आकर बीच समुद्र में उलट रही नाव-जैसी, सिर्फ एक गांधी टोपी-पहनकर-न्यारेलाल हजारों का वारा-न्यारा कर रहे थे। और, सिर की शोभा तो, खैर, बढ़ी ही हुई थी, इसके अलावा मान-गुमान भी (खासकर, गर्ल-स्कूलों की लड़कियों-मास्टरनियों और नारायण तेवाड़ी देवालय की हुड्क्यानियों को छेड़ने की दिशा में 'महिलाओं, आगे बढ़ो, देश की मिट्टी तुम्हें पुकार रही है!' के उद्‌बोधन के साथ अपने आगे बढ़ाने की दिशा में) इतना बढ़ा हुआ था, कि कामरेड सोवियत भूमि पांडे अपने भाषणों में' (जो बिना किसी निश्चित तिथि-स्थान के होते ही रहते थे) कहा करता था, कि 'अलमोड़ा शहर में आजकल दो नदियाँ (साँड़) फिर रहें है।- एक आदि कम्युनिस्ट भगवान शंकर का, और दूसरा- हमारे परम्-पूज्य बापू महात्मा गाँधी जी का!''[3]

राजनेताओं की दल-बदल-प्रवृत्ति एक बहुत बड़ी समस्या बनकर आज हमारे समक्ष प्रस्तुत हुई है। यह सब निहित निजी स्वार्थो के कारण होता है। जनता की परवाह किये बिना वे इधर से उधर या उधर से इधर लुढ़क जाते हैं। अपनी पार्टी की स्थिति डावाँडोल होते देख अन्य पार्टी में शामिल हो दुम हिलाते हैं। हमारे देश में दल बदलना कितना

१. जल टूटता हुआ, पृष्ठ-२२२
२. हिरना साँवरी, पृष्ठ-१९२
३. हैलदार, पृष्ठ-१९६

आसान हो गया है; नियम कानून सब ताक पर रख दिये गये हैं। आंचलिक उपन्यासों में नेताओं के इस रवैये पर पर्याप्त व्यंग्य मिलते हैं। सिद्धान्तवादी पार्टी और उसके नेता के सिद्धान्त न जाने कहाँ चले जाते हैं। 'जल टूटता हुआ' का रामकुमार ऐसे ही सिद्धान्तवादी नेताओं के प्रति अपना क्षोभ प्रकट करता है- ".....वे लोग और भी कमीने होते हैं, जहाँ हरियरी देखी पगहा तुड़ाकर उधर को लपक पड़े। वह कई तपे हुए सोसलिस्ट नेताओं को जानता है जो बहुत सिद्धान्तवादी बनते थे और कई बार पार्टी के टिकट पर कई तरह के चुनाव हार चुके थे, वे अब कांग्रेसी हो गये है, इस आशा से कि अगले चुनाव में जीत जाएँगे तथा मंत्री बन जाएँगे।"[१]

रामदरश मिश्र ने 'दीन दयाल' के माध्यम से दल-बदल की नीति पर तीक्ष्ण व्यंग्य किया है। दीन दयाल दुबे जी की नीयत पर संदेह व्यक्त करते हैं। "कुछ भी हो, अपने घर-घराने का मोह आखिर में उमड़ ही आता है। कुमार नेता है, जानते है न दूबेजी, नेता लोग सौ-सौ जूता खाकर तमाशा देखने वाले होते हैं। कल को आयेगा और आपको तेलियाने लगेगा तो आप फिर चिकने होकर उधर ढरक जाएँगे।"[२] 'परती:परिकथा' में "राजनीतिक लंगी लग गई मीर समसुद्दीन को और तीसरे ही दिन मीर समसुद्दीन कांग्रेसी हो गया। थाना कमिटी का मेंबर है वह। 'एम. एल. ए.' या 'एम. एल. सी.' नहीं बनायें कोई बात नहीं; सर्वे में पैरवी करके जमीन दिलवा देना कांग्रेस का कर्तव्य है। इसलिए, समसुद्दीन की ओर से पैरवी कर रहा है खुद लुत्तो।"[3] इस तरह से न जाने कितने नेता गण आये-दिन निजी स्वार्थसिद्धि हेतु पार्टियाँ बदलते रहते हैं। किन्तु 'मैला आँचल' का 'कालीचरण' रैयतों की दरखास खारिज होने से खुश है, क्योंकि, "यदि रैयत की दरखास मंजूर हो जाती तो सभी लोग कंगरेस में चले जाते। अब संघर्ष में सभी सोशलिस्ट पार्टी में रहेंगे।"[४] दल बदलने की यह राष्ट्रीय परम्परा क्षेत्रीय स्तरों से होती हुई ग्रामांचलों तक पहुँच चुकी है।

---

१. जल टूटता हुआ-२९६
२. वहीं-१७४
३. परती:परिकथा-२९
४. मैला आँचल-१५८

देश में नौकरशाही सुरसा की महत्वाकांक्षा की तरह फैल रही है। सरकारी कर्मचारी अपने जीवन के मधुमासों को फाइलों की गर्द को झाड़ने में ही व्यंतीत कर देते हैं। सरकारी कर्मचारी, कार्यालय, फाइलों की एकरस जिन्दगी को भोगते-भोगते विरक्त हो चुके हैं। अफसरों के आतंक से वे सदैव संत्रस्त रहते हैं। पदोन्नति के आकर्षण से जुड़े हुए होने के कारण चापलूसी व दैन्य की निरंतर भावना में ही बहते रहते हैं। तथा सहकर्मचारियों के प्रति अत्याधिक ईर्ष्या का भाव उन्हें आपस में ही ईर्ष्यालू बनने में सहायता देते हैं। अकर्मण्यता का साम्राज्य आच्छादित है। यहाँ भी रिश्वतखोरी और अनैतिकता की जड़ें फैली हुई हैं। सरकारी कार्य-प्रणाली की नीरस व एकरसता का कार्य करते हुए सरकारी कर्मचारी स्वयं के व्यक्तिगत जीवन में भी वैसा ही आचरण करने लगता है और जिसका प्रभाव घर-परिवार पर भी पूरी तरह से पड़ता है। आँचलिक उपन्यासों में सरकारी कर्मचारियों की इस मनोवृत्ति पर भी उपन्यासकारों ने कटाक्ष किए है। पुलिस-तंत्र में भी अव्यवस्था की दुष्काल छाया विद्यमान है। आज भी पुलिस विभाग के विषय में जन-सहानुभूति अपेक्षा-कृत न्यून है। इसका प्रमुख कारण है कि भ्रष्ट पूँजीवादियों ने इस विभाग को आर्थिक प्रलोभन देकर अपने अवैध व्यापार आदि को सुरक्षित बना लिया है। यह विसंगति आज आँचलिक स्तर पर राजनैतिक विसंगति के रूप में सारे देश में फैल चुकी है। स्वतंत्रता पूर्व तो जनता बाहरी शासन की गुलाम थी, पुलिस मनमानी जुर्म करती थी। 'देवेन्द्रनाथ सत्यार्थी' कृत आँचलिक उपन्यास 'ब्रह्मपुत्र' में उस समय की पुलिस-प्रशासन की अमानवीय कार्यवाइयों पर तीक्ष्ण व्यंग्याक्षेप किया है। 'नारायण दारोगा' के ऊँचा पद पाने का रहस्य 'राखाल' जानता है। वह सोनपाही से कहता है- ''मै उसे जानता हूँ। उसने ऊँचा पद पाने का रहस्य समझ लिया है। वह सदा ऐसे कार्य करने में ही साहस दिखाता है, जितनी बात सदा ऊँचे अधिकारियों तक जा पहुँचती है। हाट-बजार में या सड़क पर लोगों को ठोकर मारते नारायण दारोगा को तनिक भी संकोच नहीं होता। वह गन्दी से गन्दी गाली देता है, लोगों को बूट की ठोकर मारता है और अपने अफसरों के बूटों के तमसे खोलते और कसते हुए भी वह जरा नहीं शरमाता।''[१]

---

१. ब्रह्मपुत्र, पृष्ठ-११५

"नागार्जुन कृत 'बलचनमा' में व्यंग्य का स्वर इस प्रकार प्रस्फुटित हुआ है- "चुनाव में कांग्रेस की भारी जीत हुई थी, अंग्रेजी हाकिमों के बदले अब स्वदेशी मिनिस्टरों की हुकूमत कायम होने जा रही थी, सन् सैतीस (१९३७ ई.) के शुरु होते ही कांग्रेसी जमींदारों के भाई-बन्द और सास-ससुर मूछों पर ताव देने लग गये थे..... कांग्रेसी राज जमींदारों का ही फायदा करेगा- स्वामी जी की यह बात हमारी रग-रग में समा गई थी। हम पुलिस को भी समझ रहे थे और जमींदारों के लठैतों को भी- जमींदार की सह पाकर पुलिस वाले हमें तरह-तरह के मुकदमों में फँसाने चाहते थे।"[1]

स्वातंत्र्यपूर्व ही पुलिस के छोटे-से-छोटे कर्मचारी से लेकर उच्च-से-उच्च अधिकारी के मुंह में रिश्वत का खून लग चुका था। गरीब किसानों की जमीन बलपूर्वक हड़प ली जाती थी "यह जमीन हमारी है। ये जंगल हमारे है। यह सारी धरती हमारी है। जिस लिंगों ने यह धरती बनाई है, उसी ने हमें बनाया है। फिर दो-दो एकड़ जमीन देने वाला तहसीलदार कौन होता है?- उसने गर्व से सबकी ओर देखा।..... 'हमें दो एकड़ जमींन देकर सिरकार यह बताना चाहती है कि, हम सिर्फ दो एकड़ जमींन के मालिक है। बाकी जमीन हमारी नहीं है।"[2]

इसी प्रकार 'वरुण के बेटे' उपन्यास में नागार्जुन ने मालगुजारी वसूल-पद्धति और कालाबाजारी पर व्यंग्य किया "जमींदारी-उन्मूलन' कानून के मुताबिक रैयतों से जमीन का लगान या मालगुजारी वसूल-तहसील करने के हकों से मौकूफ हो चुके थे। व्यक्तिगत जोत की जमीन, बाग-बगीचे, कुआँ-चभच्चा और पोखर, देवी-देवता के नाम पर चढ़ी हुई जायदाद, चरागाह, परती-परांत, नदियों के पाट और तटवर्ती भूमि जैसी कुछ-एक अचल सम्पत्ति के मामले में जमींदारी उन्मूलन-कानून ने भूस्वामियों को खुली छूट दे दी। नतीजा यह हुआ कि पोखरों और चरागाहों तक को वे चुपके-चुपके बेचने लगे- "आग लगते झोंपड़ी, जो निकले सो लाभ।"[3]

---

१. बलचनमा, पृष्ठ-१७०

२. जंगल के फूल-११९

३. वरूण के बेटे, पृष्ठ-३१

"बहुत मनाने के बाद निस्पिट्टर तैयार हुआ दो कोरी रुपयों में। इत्ते रुपये उसके पास तो थे नहीं। उसने निस्पिट्टर के पाँव पकड़े। जो कुछ उसके पास थे उसने चरणों में चढ़ा दिए, बाकी रुपये तीन-चार दिन में लाने का वचन दिया। निस्पिट्टर ने धीरे से हाथ नीचे बढ़ाया और रुपये उठाकर अपनी जेब के हवाले किए।"[१] 'ब्रह्मपुत्र' का ही 'राखाल' उस समय की स्थिति का जिक्र अतुल से करता है- "जब मैं सात साल पहले छुट्टी पर घर आया था, तो शिव सागर का हाल मैने अच्छी तरह देखा था। गाँव में साधारण झगड़ा होता है। फिर यह झगड़ा मार-पीट में बदल जाता है। थाने वाले सोचते हैं- हम किसलिए हैं? वे नहीं चाहते कि झगड़ा शान्त हो जाय। उनकी ओर से तो यही यत्न किया जाता है कि झगड़ा शिवसागर की कचहरी में पहुँचे। न्याय का नाटक आरम्भ होने से पहले दिसाँगमुख का यह सूत्रधार- यह हमारा नारायण दारोगा- मंगलाचरण के साथ फिरंगी की प्रशंसा करता है और संक्षेप में वही कहानी दोहराता है जो कचहरी की रंगभूमि पर इससे पहले हजार बार दोहराई जा चुकी होती है।"[२] उस समय भी पुलिस घुसखोरी का काम करती थी और घूस देने वाले का काम आसान हो जाता था। झूठी साक्षी देने वाले भी जितना चाहे, मिल जाते थे। 'राखाल' इस रहस्य का खुलासा करते हुए कहता है- "घूस के बिना तो नाटक का पर्दा गिरता है न उठता है, इसलिए बत्तखों के जोड़े और टोकरों में भर-भर कर अण्डे शिवसागर पहुँचाये जाते हैं। मुर्गियाँ और कबूतर, सूअर और मछलियां- इनका तो कोई हिसाब-किताब ही नहीं रहता। दूध के साथ दूध, दही के साथ दही; शिवसागर का पेट ही नहीं भरता। पग-पग पर घूस देकर ही मामला आगे बढ़ता है। घूस के लिए नये-नये शब्द गढ़े जाते हैं- दक्षिणा, भेंट, श्रद्धा के फूल- ऐसे-ऐसे न जाने कितने शब्द घूस के लिए बरते जाते हैं।"[३] यहाँ तक कि, हाथ में डाली हुई हथकड़ी खुलवाने के लिए भी दरोगा जी घूस लेते हैं; देवेन्द्र सत्यार्थी ने राखाल के माध्यम से घूस लेने की इस प्रवृत्ति पर व्यंग्य किया है। 'राखाल' दिसाँगमुख का हाल सुनाते हुए कहता है- "एक बार हाँथ में डाली हुई हथकड़ी को खुलवाने की दक्षिणा

१. जंगल के फूल-१४९

२. ब्रह्मपुत्र पृष्ठ-११६

३. वही, पृष्ठ-११६

सौ रूपये से एक दमड़ी कम नहीं लेते दारोगा जी; वैसे काम न बने तो काला पानी भिजवाने की धमकी देते हैं। लाख रोओ-धोओ, लाख पैर पकड़ो। पगड़ी उतार उनके चरणों पर रखो। दण्डवत प्रणाम करो, चाहे देवता मानकर मंगलाचरण पढ़ो। ये देवता तो मुफ्त में पसीजने से रहे। कभी सौ से उतरे भी, तो अस्सी पर आ रुके। बात-बात में दारोगा जी यही बोल मुँह पर लायेंगे- 'जेल तुम्हारी राह देख रही है!' कभी कहेंगे- 'जेल का भात खाये बहुत दिन तो नहीं हो गये?' अतुल, मैं तो यही कहूँगा कि जेल गाँव का थाना साँप का बिल है। साँप का मन्त्र मालूम होने पर भी इस बिल में हाथ न डाला जाय, यही अच्छा है।''[१]

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भी आज पुलिस-अत्याचार जारी है। जिनके पास फालतू पैसा है, काला धन जमा है, उनका कोई भी काम अत्यन्त आसानी से निपट जाता है। गरीब और बेसहारा वर्ग पुलिस की अत्याचार से आज भी पीड़ित है। तरह-तरह के जुल्म उन पर ढाये जाते हैं। पुलिस को हर जगह घूस चाहिए, बिना रिश्वत लिए समस्या का समाधान मुश्किल हो जाता है। 'जल टूटता हुआ' का बिरजू जेल से छूट कर आ गया- ''छूटता नहीं तो करता क्या? पुलिस को रुपये मिलने की कोई उम्मीद तो थी नहीं और मुकदमा चल सके, ऐसा कोई मामला भी नहीं था, पुलिस ने उलटे ही दीनदयाल को फांसा कि क्यों तुमने इतनी बेरहमी से बिरजू को मार कर कानून अपने हाथ में लिया..... मगर दीनदयाल ने पुलिस को खिला-पिलाकर अपने को अलग कर लिया...।''[२] 'सोनामाटी' में सिपाही 'सीरी भाई' की धर-पकड़ और उनके सम्पत्ति की कुर्की के लिए उन्हें ढूँढ़ते-ढूँढ़ते दीपन के घर तक आ जाते है। सीरी भाई का दीपन के घर से बहुत गहरा सम्बन्ध है और उससे कुछ परामर्श के लिए वे उसकी प्रतीक्षा में सायंकाल से ही बैठे थे। अब वे चलना ही चाहते थे कि ''ये न जाने कहाँ ले जाने वाले आ गये। पता नहीं किस बैरी ने इन यमदूतों को सुराग दिया था कि वे यहाँ है। नायब तहसीलदार,

---

१. ब्रह्मपुत्र, पृष्ठ-११७
२. जल टूटता हुआ, पृष्ठ-१०६

कानूनगो और अमीन सहित सिपाहियों की यह पार्टी आयी तो थी सूखा-सहायता वाला गेहूँ बाटने, पर क्या गजब हुआ कि लगे माल-गुजारी वसूल करने। सो भी इसी प्रकार!''[1] ग्रामीण राजनीति का मुख्य घटक पुलिस विभाग जमींदारों एवं पूँजीपतियों से मिली-भगत कर सीधे-सादे एवं गरीब लोगों को बड़ी बेरहमी से बेजमीन और बेघर कर देने के लिए विवश कर देता है। तभी तो सोनार टोली में सन्नाटा ही छाया रहता है- ''सोनार टोली में अब रहता भी कौन है? सोने-चाँदी का कारोबार चौपट होने के बाद यह जाति जैसे उजड़ गई। पेट जिलाने के लिए भगे इधर-उधर।''[2] विवेकी राय ने इस पर अत्यन्त ही धारदार व्यंग्य किया है- ''अब रामरुप ने जाना, यह अमींनों की फौज है। आज के इस आक्रमण का नेता यह सिपाही है। शेष चपरासीगण इसके सहायक हैं। गंवारों के जंगल में ये शेर-से दहाड़ रहे हैं। इन्हें अधिकारियों ने पूरी तरह बाघ की पोशाक पहना दी है। ऊपर से पैने-पैने नाखून लगा दिये हैं। ये पहचान-पहचान कर कमजोर किसानों को नोच रहें हैं। इन बर्बर भेड़ियों जैसे इन्सानों के बीच एक व्यक्ति था जो पोशाक से कुछ भद्र लग रहा था और प्रायः चुप था, शायद वही अमीन था।..... क्यों साहब, बता सकते हैं कि माल गुजारी वसूली का इससे बेहतर वक्त क्या आप के पास नहीं होता है? देख रहें है कि असाढ़ से एक बूँद पानी नहीं बरसा और आसमान से आग बरस रही है। किसानों के मुंह में धान का लावा फूट रहा है। किसी के पास फूटी कौड़ी नहीं और फसल का आसरा रहा नहीं । तिस पर ऊपर से वसूली की यह नादिरशाही क्या उचित है?.. 'इसीलिए इतने आदर के साथ ले जा रहे थे? क्या तनिक भी मनुष्यता आप लोगों में है?.....'' ये लोग यमदूत है और मुझे शायद विष्णु भगवान बनाकर घसीट रहें हैं। कहते हैं, नायब साहब ने दर्शन के लिए तलब किया है। आप तो दिन भर स्कूल पर रहे और ये लोग गाँव में अहेर खेलते रहे। लोगों को डाँट और गाली के मुंह से, पकड़ ले जाते रहे और दीनदयाल के द्वार पर साहब के सामने हाजिर कर देते। फिर साहब का हुक्म होता कि माल-मवेशी, गहना-गुरिया, कपड़े-लत्ते और बरतन-भांडे

---

१. सोनामाटी, पृष्ठ-४१४

२. वही, पृष्ठ-४१४

बेचकर भी मालगुजारी बेबाक करो अथवा यही बैठे रहो।..... दरवाजे से मवेशियों को खोल-खोल कर ले जाते हैं, कहते है कि कुर्की है। औरतों पर रोब जमाते है। दहाड़-दहाड़ कर आतंक फैलाते है। लोग घर-बार छोड़कर भाग खड़े हुए है। मै भी डर के मारे दिन भर भागता फिरा यहाँ मिल गया तो कहते है- 'देखो बदमाश भागने न पाये। इसे तहसीलदार साहब के सामने ले चलो।'..... गरीब हूँ तो क्या? एक इज्जतदार आदमी हूँ। इस प्रकार आबरू को उघिया देना किस सरकारी रूल में लिखा हुआ है?''[१] उपन्यासकार ने पुलिस के उच्चाधिकारियों पर भी व्यंग्य-बाण छोड़ा है- ''हम लोग प्राइवेट नहीं-सरकारी गुंडे हैं। क्या आप जानते नहीं है? आप हम लोगों की शिकायत अखबार में भेजिए। हमारी क्रूरता और कठोरता की निन्दा ऊपर के अधिकारियों से कीजिए। हम लोगों की फौरन तरक्की हो जाएगी। इस काम में जो जितना ही सख्त है, वह उतना ही कामयाब है। गरीब किसान की टेंट से पैसा काढ़ना हंसी खेल नहीं है। गुंडई करनी ही पड़ती है। अत्याचार और जुर्म ढ़ाना पड़ता है।..... यह देखिए, कुर्की और वारंट के सादे फार्म। बड़े साहब ने हस्ताक्षर करके दे दिया है। हम जहाँ चाहें इसका इस्तेमाल करें। जिसको चाहें गिरफ्तार करें। जिसकी चाहे गाय-भैंस अथवा बैल वगैरह को खड़े-खड़ा कुर्क कर दें।'..... अब कुछ और लोगों के जुट जाने और इस सूखे-अकाल के वसूली के प्रति काँव-काँव करने के कारण बहस ठंडेपन के उतार पर आ गयी। सभापति जी भी आ गये।..... इस वार्ता के साथ अमीन और चपरासियों की उस टुकड़ी नें कूच मार्च किया। हाँ, कुछ बात थी कि, वह एक सिपाही जाते-जाते रामरूप को विशेष अर्थ भरी दृष्टि से देखता जाता था। उसकी दृष्टि में क्या था, यह तो भगवान ही जाने,परन्तु इतना तो रामरुप भी जान गया कि, खत्म होकर भी मामला अभी शायद खत्म नहीं हुआ। कल की सुबह शायद कुछ और जुल्म ढ़ाये। सभापति ने नाहक वैसा वादा किया। कहाँ से सीरी भाई के घर रातों-रात ख़जाना बरस जाएगा?''[२] 'सोनामाटी' में पुलिस के अत्याचार का जीता-जागता

१. सोनामाटी, पृष्ठ-४१५
२. वही, पृष्ठ-४१६

चित्र व्यंग्य भरे स्वर में चित्रित किया गया है। छोटे-से मामले को पुलिस तूल दे देती है और बहुत लम्बा खींच जाता है मामला। बलपूर्वक अवैध माल-गुजारी वसूल करने के लिए अमीन,भरपूर पुलिस-बल की सहायता ले रहा है। "सुबह जरा देर से नींद खुली तो रामरूप देखता है कि गांव में कुहराम मचा हुआ है। लोग भाग रहे हैं। कोई सीधे मुंह बात नहीं कर रहा है। पूछने पर कई लोगों की भिन्न-भिन्न तरह की बातों के भीतर से निष्कर्ष निकला कि, इस महुआरी गांव में कल साढ़े सात बजे शाम को कुछ लोगों ने नायब तहसीलदार को मालगुजारी में बाधा देने के साथ पीट दियां है और नतीजा यह हुआ कि गांव के गुंडों को सजा देने के लिए फोर्स आ गयी है। कल शाम को ही 'घायल' नायब को यही छोड़कर एक सिपाही रातोरात बड़े तहसीलदार के यहाँ पहुँचा है...... फिर जिले से एक लारी गारद चली है। थाना भी उलट आया है। किसी ने कह दिया है कि, बलवाइयों के पास बन्दूकें भी है, इसीलिए पूरी तैयारी के साथ लोग आ रहे हैं। तहसीलदार को मारना खेल नहीं है। मारने वाला तोप लगाकर उड़ा दिया जायेगा।"[१] 'लोक ऋण' में भी विवेकी राय ने राजनीतिक व्यंग्य के द्वारा समकालीन पुलिस-व्यवस्था पर प्रश्न चिन्ह लगाया है- "तफतीस और जमानत से लेकर चार्जशीट तक में करते-कराते महीने-दिन बीत गये और रुपयों की एक बड़ी लड़ाई का दौर जब अस्पताल और थाने तक खत्म हुआ तो ऐसा लगा कि कार्तिक की बोआई अब शांतिपूर्वक हो जायेगी। जब तक ठीक-ठीक पता नही लगा और जमानतें नहीं हो गयीं, किस-किस की सांस नहीं टंगी रहती थी कि पुलिस टांग न ले जाय! फिर भी चलते लोगों ने जल्दी ही जान लिया कि त्रिभुवन ने पुस्तकों की चोरी में दफा ३७९ के अन्तर्गत सौदागर तिवारी के चारो लड़कों- हीरा, सत्यदेव, बनारसी और सदानंद के साथ उनके नौकर लछन..... कुल मिलाकर पांच आदमियों पर केस किया है। गवाह राम-प्रसन्न मुखिया और बहादुर ।..... उस कलिया को छोड़ दिया?..... अरे, इस लिस्ट में तो एक भी असली करामाती चोर नहीं ?..... तिवारी-कुल पर ही क्यों भिड़ा त्रिभुवन?..... फिर सौदागर तिवारी को क्यों छोड़ दिया?... जवाब नहीं सवालों का!..... जवाब सिर्फ

---

१. सोनामाटी, पृष्ठ-४१७

एक, पक्का राजनीतिक आदमी है त्रिभुवन।... सौदागर ने अपने द्वार पर से हटे पुस्तकालय को लड़कों से चुरवा लिया..... बहुत पैंतरा भाँजता है तिवारी, तो अगले सभापति के चुनाव के लिए दूसरों के कन्धे पर नहीं अब अपने हाथों में बन्दूक रखकर वह लड़े!..... दूसरी ओर से तीन सौ तेईस बटा तीन सौ पच्चीस में त्रिभुवन, आजाद, भुलोट और मोहना पर केस कायम हुआ। गवाह हरिहर और सुरेन्द्र शर्मा!..... सारी लड़ाई गवाहों पर ही लड़ी जानी थी; अतः बहुत सोच-विचार कर उनका नाम दिया गया। मुकदमों का यह झूठ अंग्रेजी राज और उसकी न्याय-व्यवस्था का ऐसा प्रसाद है जो गाँव के रक्त में घुल-मिल गया है। प्रायः शत-प्रतिशत मामलों में गवाह सती नहीं होते हैं और वे मुकदमे के लिए खड़े किये जाते हैं। फिर यह गवाह-वर्ग दोहरी शत्रुता की नींव हो जाता है। वादी-प्रतिवादी परस्पर जिस सीमा तक शत्रु होते हैं उससे जटिल स्तर पर वे गवाहों के बैरी बन जाते हैं। इस प्रकार वर्तमान बैरों का कहाँ अन्त है?''[1] मंत्रियों, सांसदों, विधायको या अधिकारियों के रिश्तेदार अथवा करीबी कितने भाग्यशाली होते हैं। जो चाहे जो कुछ भी मनमानी करें, कैसा भी अपराध करें, पुलिस उनकी और आँख उठाकर भी नहीं देखती, क्योंकि उसे उनकी श्राप-दृष्टि का भय सदैव बना रहता है।ऐसे अपराधी खुले आम अपराध करते हैं और यहाँ तक कि पुलिस वालों की सहायता भी निःसंकोच ले लिया करते हैं। 'सोनामाटी' में कुछ ऐसी ही स्थिति पर विवेकी राय ने व्यंग्य किया है। तहसीलदार साहब के आदेशानुसार पुलिस सीरी भाई की धर पकड़ कर रही है, उन्हें बचाने और पुलिस वालों का विरोध करने के कारण वह भी चपेट में आ जाता है किन्तु दरोगा को जब पता चला कि रामरूप विधायक जी के रिश्तेदार हैं तो उनके तेवर बदलते देर नहीं लगे - ''चैकीदार ने दरोगा के कान के पास कुछ कहा और वह उठकर मुसकराते हुए रामरूप से हाथ मिलाने के लिए बढ़ा। बोला, 'आइये साहब, बहुत मौके से आप भी आ गये। जरा भीतर जाकर.....।'

'मगर भीतर तो मुजरिम नम्बर दो है। आप लोग पहले

१. लोकऋण, पृष्ठ-३९

नम्बर एक को क्यों नहीं पकड़ते हैं। कौन है यह मुजरिम नम्बर एक?' हाथ मिलाकर तमतमाये हुए तेवर में रामरूप ने कहा।

'ओह सर, माफ करेंगे' दरोगा बोला, 'बड़ी भारी बेवकूफी कर दी आपका नाम लेकर उस एक सिपाही ने। हम लोग शर्मिन्दा हैं कि विधायक जी सुनेंगे तो क्या कहेंगे?'

'इसका मतलब यह कि विधायक जी के भय से शायद आप लोग उनके मुजरिम नम्बर एक बने बहनोई को बख्श दे रहे हैं?'

'हम लोग तो आपके सेवक हैं सर, फिर बख्शने और न बख्शने का तो सवाल ही नहीं।'

'तो ठीक है दरोगा जी, मैं भी एक बात कहूँ। आप लोग विधायक जी के बिना कहे ही, सिर्फ रिश्ता सुनकर मुजरिम नम्बर एक की सेवा करते हैं कि, उसे बख्श देते हैं अब उसी विधायक जी का रिश्तेदार सिफारिश कर रहा है कि मुजरिम नम्बर दो को भी बख्श दें और गाँव को भादों के इस अकाल में जीने दें।'

'आपका हुक्म सिर आँखों पर सर, बस एक अर्ज है, गल्ती माफ करेंगे। आप मेहरबानी करके सभापति जी के दरवाजे पर चलकर हमारे तहसीलदार साहब से मिल लें।' दरोगा बोला। इसी समय एक सिपाही दौड़ा हुआ आया और सलाम ठोक रामरूप की ओर देखकर अत्यन्त अदब के साथ बोला, 'हुजूर से मिलने के लिये तहसीलदार साहब दरवाजे पर गये है।''[१] आँचलिक उपन्यासों में सरकारी अधिकारियों और पुलिस द्वारा गरीब एवं असहाय वर्ग को मानसिक एवं शारीरिक पीड़ा पहुँचाये जाने की प्रवृत्ति पर अनेकों व्यंग्य के तेवर देखने को मिलते है।

उपन्यासकारों नें राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय न्याय-व्यवस्था पर भी तीक्ष्ण व्यंग्य कसे हैं। 'अदालतों की भूमिका' आरंभ से ही निराशाजनक रही है। आज भी अदालतों की निष्पक्षता पर संदेह व्यक्त किया जाता है। लोकतांत्रिक व्यवस्था में न्याय-व्यवस्था की कार्य-प्रणाली अत्यंत ही महँगी और दीर्घ अवधि की थकाने वाली और उबाऊ होती है। न्यायालय में

---

१. सोनामाटी, पृष्ठ-४१८

निर्णय की प्रतीक्षा करता है जिसे कम-से-कम भारतीय दर्शन के अनुसार पुनर्जन्म में अखण्ड़ विश्वास हो। "जहाँ कागज की आँखें और नोटों के दिल हैं, ऐसी जंगल की जैसी अदालतों में बकरियों की रक्षा की क्या संभावना हो सकती है? वहाँ तो बाघ ही सरकस होंगे। फिर गाँव की बेचारी वे बकरियाँ जिसके लिए माहुर हो जाती है कभी-कभी कागज की छोटी-सी 'पाती', सम्मन! नोटिस!!!.... अब चलो बच्चू चक्कर काटो। कचहरी कच-हरी है। सिर पर एक बाल साबित नहीं बचेगा।"[1] 'सोनामाटी' का दयानाथ पाण्डेय सभापति के 'मुकदमा सम्बन्धी' विचार पर व्यंग्य पूर्वक प्रामाणिकता का मोहर लगाता है - "अदालत की राह और कानून की रूह से खेत पाना मुश्किल है। मुकद्दमात पुश्त-दर-पुश्त लड़े जाते हैं और जजमेन्ट नहीं हो पाता। आजकल की अदालतें भटियार खाना है। इस कोर्ट से लेकर उस कोर्ट तक, सरपंची से लेकर सुप्रीम कोर्ट तक सीरी भाई के लिए महंगा पड़ेगा। वह ठेंगा भाज फसल काट लेगा। उसी आमदनी से लड़ता जायेगा। इनका डीह छूट जाएगा।"[2]

आँचलिक उपन्यासकारों ने समाचार पत्रों की ईमानदारी अथवा समाचारों की सत्यता और प्रामाणिकता पर भी व्यंग्य किया है। देश के स्वतंत्रता आदोंलनों में समाचार पत्रों ने अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध जनमत तैयार करने में, महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। इन्होंने निर्भीकता पूर्वक जनता की आवाज को विदेशी शासकों के सामने रखा था। स्वातत्र्योत्तर समाचार-पत्र दुर्भाग्य से भारतीय समाज की आशा, आकांक्षाओं को पूर्ण करने में असमर्थ रहे क्योंकि, ये समाचार-पत्र व्यक्तिगत दलीय और व्यावसायिक उद्देश्य को सम्मुख रखकर प्रकाशित होने लगे। ये पूँजीवादी वर्ग के पक्षधर बन गये। राजनीतिक नेताओं के वक्तव्यों, सरकारी नीतियों को अपनी मान्यतानुसार अर्थप्रदान करने लगे। समाचार-पत्र जनता की मूलभूत समस्याओं को प्रभावशाली ढंग से सरकार के सम्मुख रखने में असफल रहे हैं। अपनी प्रसार-क्षमता की अभिवृद्धि के ये लिए नैतिकता विहीन ओछे हथकण्डों को अपनाने लगे। सरकार एवं पूँजीपतियों की शोषण प्रवृत्ति के विरुद्ध में श्रमिकों का साथ नहीं दे सके।

---

१. सोनामाटी, पृष्ठ-७९

२. वही, पृष्ठ-८०

स्वतंत्रता के बाद समाचार पत्रों के प्रकाशन राजनीतिक दलों-विशेष के द्वारा होने लगे। अपने दलों के अनरूप ही वे सरकारी नीतियों को अर्थ प्रदान करने लगे है। राजनीतिक स्वार्थो के वशीभूत होकर तद्नरूप समाचारों को प्रकाशित करने लगे हैं। सामान्य व्यक्ति को सत्य-असत्य का ज्ञान नहीं हो पाता; वे किसे सत्य मानें, किसे असत्य। सत्य उसे त्रिशंकु की भाँति अधर में लटका दिखाई देने लगा है। एक ही समाचार की कोई पत्र आलोचना करता है तो दूसरा अन्य उसकी वकालत करता है। एक समाचार पत्र एक घटना को भ्रष्टाचार के रूप में उल्लेख करके, अपराध की श्रेणी में खड़ा करता है तो दूसरा उसी घटना को लेकर सरकार की तारीफों के पुल बाँधता है। 'सोनामाटी' में समाचार-पत्रो की दलीय एवं निजी स्वार्थ-भावना पर व्यंग्य किया गया है। हनुमान प्रसाद को याद आता है- ''यही 'प्रकाश' का संवाददाता और नवीन का दोस्त क्रान्तिचरण उस दिन महुआरी रोड वाले बम-काण्ड में बी.डी.ओ. के साथ था और उनके वहाँ उपस्थित न रहने पर भी अखबार में सारा दोष उन्ही के ऊपर घहरा दिया था। उसने उन्हें नक्सली आतंक का सूत्रधार कह कितना कीचड़ उछाला था। पता नहीं पीछे क्यों पड़ा है? क्या सचमुच विरोधी पार्टी का पेपर है? अरे नहीं। सारा विरोध 'घास' का है। लगता है इसके आगे 'डालनी' होगी। यह आदमी तो बहुत छोटा है परन्तु इसकी कलम से बदनामी बहुत बड़ी हो गयी।.... लेकिन इससे होता क्या है? अब शहरी रोग जैसे अखबारों में छपने से कुछ नहीं होता है। जमाने की फसल काटने वालों के साथ सरकार और उसकी व्यवस्था का हाँथी अपनी चाल से चलता रहता है। और अखबार वाले भूँकते रहते हैं।... वे इसे जानते है, पर क्या करें? यह उनकी सेवा नहीं, व्यवसाय है। कीचड़ उछालने से व्यवसाय जरा तगड़े में चलता है।....जीने-खाने की समस्या तो सबके सामने है। ऐसे उसकी ओर कोई नहीं देखता है तो यह साधनहीन जिले का फटीचर पत्रकार आँखों में कलम घुसेड़ देता है।... जनाब, हम भी हैं। कुछ हमें भी, कुछ हमारे 'पत्र' का पेट भरने के लिए मिले।..... तो मिल गया मसाला कि विधायक बेटे के सपथ लेते-लेते जालिम जमींदार बाप स्मगलिंग, ब्लैक मार्केट और भ्रष्टाचार में जोर-शोर से जुट कर क्षेत्र की जनता की छाती पर कोदो दलने लगा।.... मोटी

हेड लाइन लगाता है, 'सैया भइले कोतवाल'!''[1]

यहाँ समाचार-पत्रों के संचालक अधिकांशत: पूँजीपति हैं। उनका दृष्टिकोण व्यावसायिक होने के कारण, वे आर्थिक लाभ की ओर ध्यान देते हैं। संचालक जैसे भी हो, समाचार-पत्र की प्रसार-वृद्धि करना चाहते हैं। वितरण बढ़ाने में उनकी दिलचस्पी केवल इसलिए होती है कि विज्ञापनदाता यह देखना चाहता है कि पत्र का वितरण कम तो नहीं है। यदि समाचार पत्रों का प्रसार बढ़ाने का प्रयास होता है तो यह लोगों में अखबारी भूख पैदा करने के लिए नहीं, वरन् इसलिए कि प्रसार-वृद्धि से पत्र के उच्चतर श्रेणी में आ जाने पर विज्ञापन के अतिरिक्त और भी कई लाभ होते हैं। सभी अपनी ग्राहक संख्या बढ़ाने के लिए 'पीली पत्रकारिता' का प्रयोग करते हैं। सनसनीखेज और चमत्कारपूर्ण खोज में रहते हैं, ऐसे समाचारों को प्रकाशित करते हैं जो अविश्वसनीय होते हैं। निर्वाचनों के समय ये सभी गतिविधियाँ अधिक तीव्र हो जाती हैं। 'परती:परिकथा' में लेखक ने संचालकों की दूषित मनोवृत्ति को नग्न कर दिखाया है। श्री कुबेर सिंह अपने दोस्त-भाई वीरभद्दर को पटना से पत्र में लिखते है- ''....'हुआ सवेरा' का पूरा एक पेज रिजर्व है, तुम लोगों के लिए। और भी तेज खबर भेजो। तुम लोग सिर्फ 'फैक्ट' लिखकर भेजो। स्टोरी यहाँ बना ली जायेगी। और एक काम जरुरी है। तुम्हारे गाँव में नट्टिन टोली है। उनमें से किसी एक की नंगी फोटो नहीं खिचवा सकते ? तुम्हारे गाँव में एक हरिजन लड़की पढ़ी-लिखी है। उससे यह नहीं लिखवा सकते कि, उसके साथ....?''[2]

इस प्रकार पत्रकार भी राजनीतिक नेताओं के आगे-पीछे उनके सन्देश लेने के लिए घूमते रहते है? वे राजनीतिक गतिविधियों को ही अधिक महत्व देते हैं। साहित्य और कला के समाचारों में उनकी दिलचस्पी नाममात्र की होती है।

अत: आँचलिक उपन्यासों में समाचार-पत्रों के विशुद्ध दुकानदारी दृष्टिकोण, व्यावसायिक प्रतिद्वन्दिता, श्लील-अश्लील, शालीनता, क्षुद्रता तथा पत्रकारों की चापलूसी प्रवृत्ति और पथभ्रष्ट पूर्ण व्यवहार का व्यंग्यात्मक

---

१. सोनामाटी, पृष्ठ-३५७

२. परती: परिकथा, पृष्ठ-१४७

चित्रण हुआ है। समाचार-पत्रों में जनता की समस्याओं को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया जाए, इसी को दृष्टिगत रखकर व्यंग्यकारों ने व्यंग्य का सहारा लिया है।

आंचलिक उपन्यासों ने राजनीतिक परिवेश को अपने व्यंग्य का प्रमुख लक्ष्य बनाया है। उपन्यासकारों की तीक्ष्ण युगबोधक दृष्टि ने राजनीतिक असंगतियों का प्रभावशाली चित्रण किया है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् प्रगतिशीलता के नाम पर प्रतिगामी शक्तियों का राज्य स्थापित हो गया। राष्ट्र की प्रगति के नारों की आड़ में भाई-भतीजावाद, भ्रष्टाचार, धन अर्जित करने की मनोवृत्ति को खुलकर अनैतिक कृत्य करने का अच्छा अवसर प्राप्त हो गया। एक तरफ जनता को आश्वासन देना, उसकी दु:खपूर्ण जिन्दगी की सहानुभूति में मगरमच्छी आँसू बहाना और दूसरी तरफ पूँजीपरस्तों को संरक्षण देना, पूँजीपतियों के हितों की रक्षा करना और इस 'महान' यज्ञ में आवश्यकता पड़ने पर किसानों की भूमि का अधिग्रहण-आदेश जारी करना उनके बाएँ हाँथ का खेल है। सत्तारूढ़ दल का कार्य जनता को आश्वासन देना तथा अपराधों के विषय में जाँच करने के लिए आयोग या जाँच कमेटी की स्थापना करवा देना ही शेष रह गया है। दूसरी तरफ विरोधी दलों के सदस्य सत्ता हथियाने के लिए तरह-तरह के षडयंत्र, तोड़फोड़ करते और गला फाड़-फाड़ कर नारे लगाते । ऐसे राजनीतिक परिवेश में ईमानदार और निष्ठावान राजनीतिक कार्यकर्ताओं का जीवन दूभर हो जाना स्वाभाविक है।

भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम का लक्ष्य राजनीतिक स्वतंत्रता और लोकतांत्रिक कार्य-प्रणाली को ग्रहण करने के लिये था। जनतंत्र की स्थापना करने के लिए तथा एक 'सर्व प्रभुत्व सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य' की स्थापना का अद्वितीय स्वप्न पूर्ण करने हेतु 'छब्बीस जनवरी उन्नीस सौ पचास' के दिन निष्ठापूर्वक शपथ ग्रहण की और राष्ट्र की जनता ने इस महान संकल्प को रचनात्मक रूप देने के लिए प्रतिज्ञा की, किन्तु सत्ता-प्राप्ति की आपा-धापी में शपथों के भावुक शब्द स्वप्नवत् हो गए। यथार्थ की कालिमा ने आदर्श की शुभ्रता को कलंकित कर दिया। सभाओं, गोष्ठियों व भाषणों में चुनावों के दिनों में जिस उर्जस्वी कंठ से सिद्धान्तों की दुहाई दी जाती; व्यवहार में उनका उतना ही विरोध होता;

और निरंतर स्वार्थो में आदर्श, नैतिकता, मर्यादा, विवेक, सत्य, निष्पक्ष निर्णय, धर्म-निरपेक्षता, अहिंसा, साम्प्रदायिक एकता की दुहाई दी जाती लेकिन व्यावहारिक क्षेत्र में अनैतिकता, अमर्यादा, अविवेक, असत्य, पक्षपात, हिंसा, अपहरण, आतंक, आगजनी, साम्प्रदायिक विषमन और आर्थिक प्रलोभनों का आश्रय लिया जाता। पूँजीपति वर्ग से दिल खोलकर धन-आदि भी सहायता ली जाती। विभिन्न साम्प्रदायिक संगठनों की सहानुभूति प्राप्त करने और वोट प्राप्त करने के लिए एक दूसरे की घृणित निन्दा करना, जातिवाद को उभाड़ना, शराब-सुन्दरी का प्रयोग करना, अवसर आने पर कैद कर लेना या अपहरण कर लेना तो साधारण बात है।

राष्ट्रीय प्रगति की जिन योजनाओं पर स्वीकृति की मुहर संसद के दोनों सदन तथा विधान सभा अंकित कर देती है उसे रचनात्मक रूप प्रदान करने का उत्तरदायित्व प्रशासन तन्त्र का है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सरकारी कार्यालयों तथा कर्मचारी वर्ग की संख्या में प्रभूत प्रगति हुई है। प्रशासन-तंत्र जितना सजग एवं कर्मचारी-वर्ग जितना निष्ठावान होगा, राष्ट्र की उन्नति उतनी ही द्रुत गति से होती है। लेकिन दुर्भाग्य की बात है कि देश का प्रशासन तंत्र अत्यन्त क्षीण और अर्थहीन हो चुका है। नौकरशाही सुरसा की महत्वाकांक्षा की तरह फैल रही है। पुलिस-विभाग में भी अव्यवस्था की दुष्काल छाया विद्यमान है।

आंचलिक उपन्यासों में राजनीति के विभिन्न पहलुओं, गतिविधियों पर सूक्ष्म दृष्टिपात कर उसमें व्याप्त विसंगतियों एवं विकृतियों पर धारदार व्यंग्य-प्रहार किया गया है। उपन्यासकारों का व्यंग्य अत्यन्त सहज एवम् स्वाभाविक बन पड़ा है।